कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू॥ ७॥
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना। रिष्टपुष्ट कोउ अति तन खीना॥ ८॥
छंद—तन खीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरें।
भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरें॥
खर स्वान सुअर सृकाल* मुख गन बेष अगनित को गनें।
बहु जिनस प्रेत पिसाच जोगि जमाति बरनत नहि बनें॥
सोरठा—नाचहिं गावहिं गीत परम तरंगी भूत सब।
देखत अति बिपरीत बोलहिं बचन बिचित्र बिधि॥ ९३॥

शब्दार्थ—**बिपुल**=बहुत। **बाहूं**=भुजा, हाथ, बाँह। **रिष्टपुष्ट** (हृष्टपुष्ट)=मोटाताजा। **गति**-रीति, बेष, ढंग, चाल=दशा—(पं० रा० कु०) **कपाल**=मरे हुए मनुष्यकी खोपड़ी। **सद्य** (सं० अव्यय)=आजहीका, तुरंतका, तत्कालका, ताजा। **सोनित**=खून, रक्त, रुधिर। **भरें**=लगाये हुए,पोते हुए। **खर**=गर्दभ, गदहा। **स्वान**=कुत्ता। **सुअर**=शूकर। **सृकाल** (**शृगाल**)=सियार, गीदड़। **जिनस** (जिंस)=किस्म, जाति, प्रकार। **जोगि**=जोगड़े, प्रमथादि पार्षद। **जमाति** (जमाअत)=गरोह, समूह। **तरंगी**=लहरी, मनमौजी, जो जीमें आवे वही करनेवाले।

अर्थ—कोई बिना मुखका है तो किसीके बहुत-से मुख हैं, कोई बिना हाथ-पैरका है तो किसीके बहुत-से हाथ-पैर हैं॥ ७॥ किसीके बहुत-से मेत्र हैं तो कोई बिना आँखका ही है। कोई मोटा-ताजा है तो कोई अत्यन्त दुर्बल शरीरका (अर्थात् बिलकुल सूखा हुआ, जिसके शरीरमें मांस रह ही नहीं गया)॥ ८॥ कोई अत्यन्त दुर्बल शरीरका है तो कोई अत्यन्त मोटा-ताजा है। कोई पवित्र और कोई अपवित्र वेष धारण किये हैं। उनके आभूषण (गहने) भयंकर हैं, हाथोंमें खोपड़ियाँ हैं। सभी शरीरोंमें ताजा खून पोते हुए हैं। उनके मुख गदहे, कुत्ते, सुअर और गीदड़ोंके-से हैं। गणों (शिवजीके पार्षदों वा सेवकों) के अगणित (बेशुमार, असंख्य) वेष हैं, उन्हें कौन गिने? बहुत जातिके प्रेत, पिशाच और जोगड़ोंकी जमातें हैं, उनका वर्णन करते नहीं बनता। (छंद) सब भूत परम तरंगी हैं, सब मन-मौजी गीत गा रहे हैं और नाच रहे हैं। वे देखनेमें बहुत ही बेढंगे हैं, विचित्र प्रकारकी बोली बोल रहे हैं। (सोरठा)॥ ९३॥

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—इस शिवसमाजको देखिये और दिल खोलकर हँसिये। अनमिल बेजोड़पनका इससे सुन्दर उदाहरण मिलना कठिन है। यह व्यंगचित्र सर्वसाधारणको इतना रुचिकर हुआ कि आज भी धनी वैश्योंके लड़कोंके विवाहमें विदूषक लोग इसी शिवसमाजकी नकलमें हास्यजनित प्रगतियाँ करते देखे जाते हैं; क्योंकि शिव-बारात सौभाग्यसूचक समझी जाती है।

पं० रामकुमारजी—१ (क) ***'कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू'।*** बिना मुखके ही जीवित हैं, इस कथनसे उनकी दिव्यता दिखायी। यहाँसे लेकर ***'तन खीन कोउ अति पीन'*** तक गणोंका रूप वर्णन किया, आगे उनका वेष कहते हैं। —***'पावन कोउ अपावन गति धरें'।*** यहाँ गतिका अर्थ दशा है। (ख) ***'भूषन कराल कपाल कर'।*** भाव कि जैसे देवता वैसा ही उनका वेष भी हुआ ही चाहे। गण कराल वैसे ही उनके भूषण भी कराल। ***'कपाल कर'*** कहकर ***'सद्य सोनित तन भरें'*** कहनेसे जान पड़ता है कि खोपड़ियोंसे खून टपक रहा है, वही खून सारे शरीरमें पोते हुए हैं। ***'पावन गति धरें'*** अर्थात् त्रिपुण्ड्र रमाये, रुद्राक्ष पहने, रुद्राक्षका कण्ठा गलेमें पहने, इत्यादि जिससे वे पवित्र जान पड़ते हैं। हाथमें ताजे कटे हुए सिर लिये हैं, यह अपावन गति है। (ग) ***'खर स्वान सुअर सृकाल मुख गन बेष……'*** इति। अर्थात् किसीका मुख गधेका-सा है, किसीका कुत्तेका-सा इत्यादि। गणोंके वेष अगणित हैं। [कोई-कोई 'मुख' का अर्थ

* पाठान्तर—सृगाल—(रा० बा० दा०)

'मुख्य' करते हैं, यह अर्थ यहाँ नहीं लगता, क्योंकि पूर्व कह आये हैं कि *'भृंगिहि प्रेरि सकल गन टेरे',* सभीको बुलाया, मुख्यहीको नहीं। प्रथम इतना भर कहा था कि कोई मुखहीन हैं, कोई बहुमुख हैं। और यहाँ यह बताया कि मुख किस प्रकारका है—मनुष्यका-सा, देवताओंका-सा या और किसी तरहका?]

नोट—१ पार्वतीमङ्गलके वर्णनसे मिलान कीजिये—*'प्रमथनाथके साथ प्रमथगन राजहिं। बिबिध भाँति मुख बाहन बेष बिराजहिं॥ कमठ खपर मढ़ि खाल निसान बजावहिं। नरकपाल जल भरि भरि पिअहिं पियावहिं॥ बर अनुहरति बरात बनी हरि हँसि कहा। सुनि हिय हँसत महेस केलि कौतुक महा॥* तथा *'मुदित सकल सिवदूत भूतगन गाजहिं। सूकर महिष स्वान खर बाहन साजहिं॥ नाचहिं नाना रंग तरंग बढ़ावहिं। अज उलूक बृक नाद गीत गन गावहिं।...... ॥'* (६१-६२, ५७-५८)—इससे मानसके वर्णनके भावार्थ स्पष्ट हो जाते हैं। *'जोगि जमाति'* प्रमथगण हैं जो शिवजीके मुख्य पार्षद हैं। *'कपाल कर'* से एक अर्थ तो वही है जो ऊपर दिया गया, दूसरा यह कि एक हाथमें खोपड़ियोंके ही पात्र हैं जिनसे जल पीते हैं।

नोट—२ *'बहु जिनस प्रेत पिसाच......'* इति। (क) यहाँ प्रेत-पिशाचके साहचर्यसे *'जोगि'* (योगी) भी प्रेत-पिशाचोंकी ही कोई जाति जान पड़ती है। योगिनियों, रणदेवियोंका वर्णन युद्धमें अरण्य और लङ्का काण्डोंमें आया है। जैसे योगिनियाँ हैं वैसे ही योगी भी एक जाति ही होगी। कालिकापुराणके अध्याय २९ में प्रमथ आदिकी उत्पत्तिका वर्णन है। प्रमथ, भूत, पिशाच आदिकी रणमें भाग लेनेवाली नीच जातियाँ भी हैं और प्रमथोंकी अनेक ऊँची जातियाँ भी हैं जो योगी हैं और शङ्करजीके समान हैं। हमारी समझमें *'जोगि जमाति'* से वही अभिप्रेत होंगे। स्कन्दपुराण ब्रह्मोत्तरखण्डमें इनके रूप और वेषका वर्णन सुना जाता है। (ख) पं० रामकुमारजी *'जोगि'* से 'योगी शिवजी' का अर्थ करते हैं और कहते हैं कि *'जोगी'* के साहचर्यसे यहाँ *'जमाति'* शब्द दिया। योगी शिवजीकी जमात है, अतः *'बरनत नहिं बने।'* अर्थात् अकथ्य है। वे यह भी कहते हैं कि योगियोंके समूहको 'जमात' कहते हैं, जिससे समझ पड़ता है कि वे दोनों प्रकार अर्थ करते हैं। आगे बालकोंने जो—*'संग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकट......रजनीचरा'* कहा है, उससे बारातमें (रातमें विचरनेवाली) योगिनियोंका भी साथ होना पाया जाता है। वैसे ही योगी भी प्रमथादिकी एक जाति ही जान पड़ती है। पार्वतीमङ्गलसे भी यही सिद्ध होता है।

नोट—३ (क) इनके वाहनोंका उल्लेख नहीं किया गया। मुख बताये; उसीसे समझ पड़ता है कि जैसा मुख है वैसी ही सवारी है। पार्वतीमङ्गलमें वाहनोंका वर्णन इस तरह है,—*'मुदित सकल सिव दूत भूतगण गाजहिं। सूकर महिष स्वान खर बाहन साजहिं॥'* (५) प्रेत, पिशाच, भूत—(८५। ६) में देखिये। कहते हैं कि पिशाचोंका मुख सुईके छेदके समान होता है और उनकी तालू अग्निके समान चमकती रहती है। (ख)—*'नाचहिं गावहिं गीत परम तरंगी भूत सब'* इति। देवसमाजमें अप्सराएँ गाती हैं,—*'होंहि सगुन मंगल सुभद करहिं अपछरा गान॥'* (९१) शिवसमाजमें भूत नाचते-गाते हैं। सब *'परम तरंगी'* हैं, अर्थात् बड़े ही लहरी हैं, जैसी तरंग मनमें उठी वैसा ही नाचने-गाने लगते हैं। इससे यह भी जनाते हैं कि देखनेमें कराल हैं। पर हृदयके स्वच्छ हैं।—(पं० रा० कु०) यहाँपर *'भूत सब'* शब्द देकर जनाया कि ऊपर जो *'बहु जिनस प्रेत पिसाच जोगि जमाति'* कहा, उन सबकी 'भूत' संज्ञा है। उन्हींको यहाँ 'भूत' कहा। (ग) *'देखत अति बिपरीत बोलहिं बचन बिचित्र बिधि'* इति। *'देखत अति बिपरीत'* अर्थात् देखनेमें अच्छे नहीं अत्यन्त बुरे आचरणवाले हैं। *'बोलहिं बचन बिचित्र बिधि'* अर्थात् किसीका गला घघाता है, कोई हकलाता है, कोई भिन्नाता है इत्यादि। कोई कुत्तेकी, कोई भेड़ियेकी, कोई गधे इत्यादिकी भाँति-भाँतिकी बोलियाँ बोलते हैं। यथा—*'नाचहिं नाना रंग तरंग बढ़ावहिं। अज उलूक बृक नाद गीत गन गावहिं॥'* (५८) इति पार्वतीमङ्गले। पंजाबीजीने *'बिचित्र बिधि'* का अर्थ सुन्दर वाणी किया है और अन्य कुछ महानुभावोंने ये अर्थ किये हैं—(१) शास्त्रविहित वचन बोलते थे, गीत राग-रागिनीसंयुक्त गाते थे, विधिपूर्वक विचित्र वचन बोलते थे। (२) अजब ढंगसे बोलते थे। (३) जो किसीके समझमें न आवे ऐसे विचित्र ढंगसे बोलते थे।

नोट—४ *'कोउ मुख हीन……'* में *'हीन, बिपुल, पद, नयन'* इत्यादि शब्द कई बार आये हैं जिससे भाव अधिक रुचिकर हो गये हैं अतः यहाँ 'पुनरुक्तिप्रकाश अलङ्कार' है।—*'एक शब्द बहु बार जहँ परै रुचिरता अर्थ। पुनरुक्ती प्रकाश सो बरनैं बुद्धि समर्थ॥'* (अ० मं०) यहाँ शिवजीकी बारात-वर्णनमें हास्यरसकी प्रधानता है और गौणरूपसे अद्भुत तथा बीभत्सकी भी किञ्चित् झलक है। शंकरजी अवलम्बन विभाव हैं। उनकी विलक्षण वेषरचना, सर्पभूषण, जटिल, हरिचर्म और विभूतिधारण, अद्भुतगण उद्दीपन विभाव है। उन्हें देखकर सुर, देवाङ्गनाओंका हँसना अनुभाव है, हर्ष संचारी-भावद्वारा हास्य स्थायीभाव पुष्ट होकर रसरूप हुआ।

पं० प० प्र०—१ शिवसमाज और देवसमाज। (१) शिवसमाजमें *'कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू'*। देवोंमें दो मुख और चार शृङ्गवाले अग्निदेव हैं तथा चार मुखवाले ब्रह्माजी हैं। इस तरह देवोंमें *'बिपुल मुख काहू'* हैं, पर *'कोउ मुखहीन'* नहीं है। शिवसमाजमें मुखहीन हैं फिर भी जीते हैं, दौड़ते-नाचते हैं, यह उनकी अलौकिकता है। कबन्धका मुख नष्ट होनेपर उसे पेटमें मुख देना पड़ा तब वह जीवित रहा। मुखहीनका जीना असम्भव है सो शिवसमाजमें देखिये। (२) *'बिनु कर पद कोउ बहु पद बाहू'* इति। विष्णुके चार हाथ हैं। अग्निके सात हाथ और तीन पैर हैं, इस प्रकार देवोंमें भी *'बहु पद बाहु'* हैं, पर *'बिनु कर पद'* कोई नहीं है। शिवगणोंमें *'बिनु पद'* होते हुए भी दौड़नेवाले हैं यह अलौकिक है। यह केवल योगसामर्थ्यसे ही हो सकता है। (३) *'बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना'* इति। ब्रह्माके आठ, अग्निके चार और इन्द्रके सहस्र नेत्र हैं। सहस्र नयन होनेपर भी इन्द्र अन्धा-सा है—*'लोचन सहस न सूझ सुमेरू।'* पर शिवसमाजमें अन्धे भी अपरिचित मार्गपर आनन्दमग्न होकर चल रहे हैं, यह अलौकिक योगसामर्थ्य-निदर्शक है। (४) *'रिष्टपुष्ट कोउ अति तन खीना'* इति। देव प्रायः सभी हृष्टपुष्ट होते हैं, पर लोकलज्जाको डरते हैं, विषयी हैं अतः वस्त्राभूषणोंसे अपनी कुरूपता छिपाते हैं। शिवसमाज *'सब लोकलाज खोई'* वाले हैं। निस्पृह हैं, यथालाभ संतुष्ट हैं। जैसे उनके स्वामी वैसे ही वे। और देवसमाज स्वार्थी हैं।—*'आये देव सदा स्वारथी। बचन कहहिं जनु परमारथी॥'* (५) *'पावन कोउ अपावन गति धरे'* इति। कोई रुद्राक्ष, रुद्राक्षमाला, तिलक, वस्त्र-भूषण, झाँझ-मृदंग, शङ्ख, शहनाई आदि धारण किये हैं। इसके विरुद्ध कोई कपाल, सद्यशोणित आदि अपावन अमङ्गल पदार्थोंको धारण किये हैं। देवोंमें भी स्याहीके समान कृष्णवर्ण और महिषारूढ़ यमराज हैं; सात हाथ, दो मस्तक और तीन पदवाले अग्नि मेषारूढ़ हैं; घोड़ेका मुख, नरका शरीर तथा नरमुख, अश्वशरीरवाले किन्नर हैं। निर्ऋति देवका वाहन तो प्रेत ही है। वरुणका वाहन मगर है।—क्या ये सौन्दर्य और पावनताके लक्षण हैं? पर दोष देखनेवालेको दोष ही दीखते हैं और गुणोंकी खोज करनेवालेको गुण ही देख पड़ते हैं। निर्दोष तो एकमात्र भगवान् ही हैं—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म।'**

☞ इस शिवसमाज-वर्णनमें ध्यानमें रखनेयोग्य एक बात यह है कि इस समाजमें एक भी स्त्री नहीं है। शिवसमाज अपने स्वामीके समान *'जोगी अकाम मन'* है, यह यहाँ ध्वनित किया गया है। देव तो अपनी-अपनी पत्नीको साथ लेकर चले हैं, इतना ही नहीं अप्सराओंका समाज भी उनके साथ है। जैसे शिवदूलहवेष-वर्णनमें शृङ्गार और रौद्र रसोंका अभाव है वैसे ही शिवसमाजमें दोनोंका अभाव है। कामके अभावमें क्रोध भी नहीं है।

(६) *'नाचहिं गावहिं गीत परम तरंगी……'* इति। देवसमाजमें अप्सराएँ गान कर रही हैं, पर वह गान देवोंको प्रसन्न करनेके लिये है, स्वतन्त्र नहीं है। शिवसमाजमें भी गायक हैं, पर ये स्वामितन्त्र होते हुए भी स्वतन्त्र-आत्मतन्त्र हैं, आत्मानन्दमें रँगे हुए स्वामिभक्तिरस-सरिता-तरङ्गमें जो जिसको जब भाता है वह तब तैसा गाता-नाचता है।

२ ☞ *'देखत अति बिपरीत'*—यहाँ हमारे पथप्रदर्शक (कवि) पर्देके पीछे प्रकाशमें बताते हैं कि शिवगण विपरीत नहीं हैं, पर उनका व्यवहार-आचरण विपरीत-सा दीखता है। शिवगणोंने सोनेपर चाँदीका मुलम्मा चढ़ा दिया है और देवोंने चाँदीपर सोनेका मुलम्मा चढ़ाया है। देवोंने स्वार्थको परमार्थमें छिपाया है और शिवगणोंने अपवित्रतामें परमार्थको छिपाया है। इस प्रकार शिवसमाज भी अशिववेष शिवधाम है। जैसा देव वैसा भक्त।

३ शिवसमाजमें रस। शृङ्गाररस नहीं है। वीररस नहीं-सा है, क्योंकि इस रसका स्थायी भाव उत्साह तो सबमें है, पर उद्दीपन विभावादिका पूर्ण अभाव है। मुखहीन, करहीन, पदहीन, अति तनु क्षीण शिवगण करुणरसका उद्दीपन विभाव है। अति विपरीत, अति विचित्र बोलना, नयन बिना देखना, पदविहीनोंका चलना इत्यादि अद्भुत रस तो भरा पड़ा है। इसी तरह हास्य, भयानक, बीभत्स रस तो भरपूर हैं। रौद्र नहीं है, क्योंकि क्रोध किसीमें नहीं है, कोई शत्रु-मित्र नहीं है। शान्तरस पावन गतिवालोंमें है। नाचना, गाना, शिववन्दन करना इत्यादि भक्तिके संचारी भाव हैं।

वि० त्रि०—इस बारातमें सात्त्विक, राजस, तामस तीनों प्रकृतिके लोगोंके इष्टदेव हैं। शिवजीकी जमातमें राजसके इष्टदेव यक्ष-राक्षसोंका अन्तर्भाव है। भूत-प्रेत तामसी लोगोंके इष्टदेव हैं। विष्णु आदि सात्त्विक लोगोंके इष्टदेव हैं। इस तरह यह बारात इष्टदेवोंकी है। इसीलिये कहा गया कि ***'उमा महेस बिबाह बराती। ते जलचर अगनित बहु भाँती॥'*** ये श्रीराम सुकीर्ति सरयूके जलचर हैं । रामभक्तोंको इनसे बचकर रहना चाहिये। जलचर मनुष्योंको निगल जाते हैं, इसी भाँति इष्टदेव भी उपासकको अपनेमें मिला लेते हैं। भूत-प्रेतके उपासक भूत-प्रेत, यक्ष-राक्षसके उपासक यक्ष-राक्षस और देवताके उपासक देवता हो जाते हैं। और प्रभु कहते हैं कि मेरे उपासक मुझको प्राप्त होते हैं—'**देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।**' अत: रामभक्तोंको अन्यकी उपासनामें तन्मय न हो जाना चाहिये।

जस दूलह तसि बनी बराता। कौतुक बिबिध होहिं* मग जाता॥ १॥

अर्थ—(याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) जैसा दूलह है (अब) वैसी ही बारात बन गयी। मार्गमें जाते हुए बहुत प्रकारके अनेक कौतुक हो रहे हैं॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) ***'जस तसि'*** का भाव कि प्रथम बारात दूलहके अनुरूप न थी; यथा ***'सुरसमाज सब भाँति अनूपा। नहिं बरात दूलह अनुरूपा॥'*** (९२। ८) (ख) ***'तसि बनी'*** अर्थात् अब अनुरूप बन गयी। तात्पर्य कि अब बारातने शोभा पायी, जैसी चाहिये वैसी ही अब है। पुन: भाव कि अब बारातकी शोभा हो गयी, इससे अब हँसी न होगी। पहले बारात देवताओंकी-सी थी, वह वरके अनुरूप न थी, इससे उनकी हँसी होती; यथा—***'बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई॥'*** (९३। १) यथायोग्यका वर्णन 'प्रथम सम अलङ्कार' है। (ग) ***'कौतुक बिबिध होंहिं मग जाता'*** इति। ***'बिबिध कौतुक'*** का भाव कि और बारातमें जो कौतुकी हैं वे ही कौतुक करते हैं और इस बारातमें सभी कौतुकी हैं; यथा—***'परम तरंगी भूत सब॥'*** (९३) इसीसे यहाँ 'विविध' कौतुक होते हैं। ☞ बारातोंमें कौतुक, गान आदि सब होता ही है, यथा—***'करहिं बिदूषक कौतुक नाना। हास कुसल कल गान सुजाना॥'*** (३०२।८) वैसे ही यहाँ भी हो रहे हैं। यहाँ ***'बिबिध कौतुक'*** क्या है, यह ऊपर दोहेमें लिख आये हैं ***'नाचहिं गावहिं गीत परम तरंगी भूत सब। देखत अति बिपरीत बोलहिं बचन बिचित्र बिधि॥'*** (घ) देवताओंकी बारातका चलना लिख आये, यथा—***'बिष्नु बिरंचि आदि सुरब्राता। चढ़ि चढ़ि बाहन चले बराता॥'*** (९२। ७) अब भूतोंकी बारातका चलना कहते हैं।—***'कौतुक बिबिध होंहिं मग जाता।'***

नोट—बारातका वर्णन यहाँ समाप्त हुआ। बारातकी समाप्तिसे पहले ही ***'जस दूलह तसि बनी बराता'*** यह (Suggestiveness) की कला बड़ी सुन्दर है। श्रीतुलसीदासजी हमारी कल्पनाशक्तिको उभारकर स्वतन्त्र भी छोड़ देते हैं। चाहे जितने कौतुकोंकी कल्पना आप करते जायँ। ***'बिबिध'***—शब्द भी इस कलाकी जान है। कौतुक अनेक प्रकारके हैं, एक ही तरहके नहीं कि जी ऊब जाय।

शिव-बारात-वर्णन-प्रसंग समाप्त हुआ

* होत—१७०४

इहाँ हिमाचल रचेउ बिताना। अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना॥ २॥
सैल सकल जहँ लगि जग माहीं। लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं॥ ३॥

अर्थ—यहाँ (कन्याकी ओर) हिमाचलने अत्यन्त विचित्र मण्डप रचा, जिसका वर्णन नहीं हो सकता॥ २॥ जगत्-भरमें जहाँतक सब छोटे-बड़े पर्वत हैं जो वर्णन करनेसे चुक नहीं सकते॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'इहाँ हिमाचल……'* इति। (क) *'इहाँ'* का सम्बन्ध ऊपरसे है। *'लगन बाँचि अज सबहि सुनाई। हरषे मुनि सब सुरसमुदाई॥ सुमन बृष्टि नभ बाजन बाजे। मंगल कलस दसहुँ दिसि साजे॥'* (९१। ७-८)—यहाँसे इसका सम्बन्ध है। वहाँ देवता मङ्गल साजते हैं, यहाँ हिमाचलने बितान रचा है। वहाँ ग्रन्थकारको इसके कहनेका मौका नहीं मिला। जब बारात चली, तब बितानकी चर्चाका मौका मिला। पुनः, *'इहाँ'* से सूचित होता है कि इस समय ग्रन्थकारकी बुद्धि भी बारातकी पेशवाई अगवानीमें है, घरातियों-जनातियोंके साथ है। (ख) प्रथम राजाके घरकी शोभा कहते हैं, आगे पुरकी शोभा कहेंगे। वितानके वर्णनसे हिमाचलके घरका वर्णन हुआ, क्योंकि वितान घरमें है। यथा—*'भूप भवन किमि जाइ बखाना। बिश्वबिमोहन रचेउ बिताना॥'* (१। २९७)

टिप्पणी—२ *'अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना'* इति। *'अति बिचित्र'* का भाव—(क) पुरकी शोभा विचित्र है; यथा—*'पुर सोभा अवलोकि सुहाई। लागइ लघु बिरंचि निपुनाई॥'* और राजाके घरकी शोभा *'अति बिचित्र'* है; यथा—*'कनककोट बिचित्र मनिकृत सुंदरायतना घना॥'* (५। ३)……*'गयउ दसानन मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं॥'* (५। ५) (ख) वह वितान अनेक प्रकारके मणियोंसे रचित है जो पर्वतसे प्रकट हुई हैं; यथा—*'प्रगटीं सुंदर सैल पर मनि आकर बहु भाँति॥'* (६५) (ग) —जनकपुरका वितान 'विचित्र' है, यथा—*'जाइ न बरनि बिचित्र बिताना॥'* (२८९) और यह वितान *'अति बिचित्र'* है। यह भेद भी साभिप्राय है। जनकपुरका वितान गुणी मनुष्योंका बनाया हुआ है; यथा—*'पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना। जे बितान बिधि कुसल सुजाना॥ बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा॥'* (२८७) और यहाँका वितान *'हिमाचल रचेउ'* अर्थात् यह देवताओंका रचा हुआ है। इसीसे इस वितानकी विशेषता *'अति'* से जनायी।—[☞ श्रीमद्गोस्वामीजीकी यह शैली है कि जिस विषयको एकसे अधिक बार वर्णन करना है, उसको पूरा-पूरा सर्वत्र नहीं लिखते, किंतु उसे प्रायः एक ही स्थलपर कह देते हैं जहाँ उसकी प्रधानता समझते हैं और अन्यत्र वही वर्णन वहाँके दो-एक शब्दोंद्वारा सूचित कर देते हैं। श्रीमिथिलाजीमें मण्डपकी विचित्र रचना विस्तारसे कहेंगे; इसलिये यहाँ *'अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना'* इतना ही कहकर छोड़ दिया। वहाँके *'अति बिचित्र'* 'रचना' 'वितान' *'जाइ न बरनि'* वे शब्द यहाँ देकर वैसी ही रचना यहाँ भी जना दी गयी। विचित्र रचनाका वर्णन *'रचहु बिचित्र बितान बनाई'* (२८७। ६) से लेकर *'जाइ न बरनि बिचित्र बिताना'* (२८९। ३) तक है। इसमें 'विचित्र' शब्द दो बार और रचनाकी अति विचित्रता एक बार कही गयी है। यथा *'रचना देखि बिचित्र अति मन बिरंचि कर भूल॥'* (२८७)—ये सब भाव *'अति बिचित्र'* में यहाँ भी समझना चाहिये। ऐसा विचित्र कि ब्रह्मा भी अपनी कारीगरी भूल जाते हैं, इसे देखकर भौचक्के-से हो जाते हैं। पं० रामकुमारजीकी दृष्टि केवल वितानके साथ जो *'बिचित्र'* शब्द है उसीपर सम्भवतः पड़ी होगी] २—*'नहिं जाइ बखाना'* इति। जो *'अति बिचित्र'* होता है वह बखाना नहीं जा सकता; यथा—*'गयउ दसानन मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं॥'* (५। ५) *'जाइ न बरनि बिचित्र बिताना॥'* (२८९। ३) यहाँ भी वितान *'अति बिचित्र'* है, इसीसे कहते हैं कि *'नहिं जाइ बखाना'* बखाना नहीं जाता, इसीसे ग्रन्थकारने उसका बखान नहीं किया।-यह *'नहिं जाइ बखाना'* इन वचनोंका स्वरूप दिखा दिया।

टिप्पणी—३*'सैल सकल जहँ लगि……'* इति। (क) शैल भाई-बिरादरी हैं, जाति-बिरादरीके हैं; इससे

इनको प्रथम न्योता—यह बात 'सैल' शब्दको आदिमें देकर जना दी। और बिरादरी होनेसे छोटे-बड़े सभीको न्योता, क्योंकि बिरादरीमें छोटे-बड़ेका भेद नहीं माना जाता। सब बराबरके माने जाते हैं। (ख) *'जहँ लगि जग माहीं'* से जनाया कि सातों द्वीपोंके पर्वतोंको निमन्त्रित किया। (ग) *'नहिं बरनि सिराहीं'* का भाव कि सबको पृथक्-पृथक् न्योता दिया था, इससे सबको पृथक्-पृथक् वर्णन करना चाहिये था; इसी कारण कहते हैं कि वर्णन करनेसे चुक नहीं सकते, इतने अधिक हैं। यह भी दिखाया कि जिनका-जिनका वर्णन नहीं हो सकता, उन सबोंको न्योता पृथक्-पृथक् दिया गया है। (घ) ☞ *'लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं'* का अन्वय दीपदेहलीन्यायसे आगेके *'बन सागर सब नदीं तलावा'* के साथ भी है।

बन सागर सब नदीं तलावा। हिमिगिरि सब कहुँ नेवत पठावा॥ ४॥
कामरूप सुंदर तन धारी। सहित* समाज सहित बर नारी॥ ५॥

शब्दार्थ—**नेवत**=निमन्त्रण, न्योता, विवाह आदि मङ्गल उत्सवोंमें जाति, बिरादरी, सम्बन्धी और मित्र आदिको सम्मिलित होनेके लिये बुलानेकी रीति। **कामरूप**=इच्छा-अनुसार रूप धारण कर लेनेवाला।

अर्थ—(और जितने भी छोटे-बड़े) सब वन, समुद्र, नदियाँ और तालाब हैं उन सबोंको हिमाचलने न्योता भेजा॥ ४॥ ये सब इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले सुन्दर शरीर धारणकर समाजसहित अपनी-अपनी सुन्दर स्त्रियोंको साथ लिये हुए॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'बन सागर सब नदीं तलावा।……'* इति। (क) हिमाचल स्वयं जलमय है; यथा—*'जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे'* (११६) यह स्वयं पर्वत है और इसपर वन हैं, इसीसे पर्वतों, वनों और जलाशयोंको न्योता दिया।—[नदी शैलकन्या कहलाती हैं जैसे कि गङ्गाजी *'हिमसैलबालिका'* (विनय १६), नर्मदाजी *'मेकलसैलसुता'* (१। ३१) कहलाती हैं। समुद्र नदियों-जलाशयोंका पति कहलाता है। इस नाते नदियों और समुद्रोंको सपरिवार न्योता।] (ख) *'सब'* का अन्वय वन, सागर, नदी और तालाब सबके साथ है। *'सब'* कहकर जनाया कि घरभरको न्योता भेजा, यही बात आगे कहते हैं—*'सहित समाज सहित बर नारी।'*

टिप्पणी—२ *'कामरूप सुंदर तन धारी।……'* इति। (क) जैसी जिस समय कामना करें, वैसा रूप धर ले सकते हैं; इसीसे *'सुंदर तन'* धारण किये हैं। पुनः, (पर्वत आदि कैसे आ सकते हैं वे तो जड़ हैं, इसीसे) *'कामरूप'* कहा। अर्थात् वे सब अपने इस निज रूपसे नहीं आ सकते थे, इसीसे शरीर धारण करके आये। ☞ पूर्व दोहा (६५। ६) में बताया गया है कि—पर्वत, नदी आदिसे उनके अधिष्ठातृ देवता अभिप्रेत हैं। वे जब जैसा चाहें वैसा रूप धारण कर सकते हैं। देखिये, जब रघुनाथजीने समुद्रपर कोप किया तब वह 'विप्ररूप' धरकर आया था। इसी प्रकार नदियोंके दो रूप हैं, एक जलप्रवाहरूप, दूसरा मूर्तिमान् देवरूप। पार्वतीमङ्गलसे भी यही भाव पुष्ट होता है। यथा—*'गिरि बन सरित सिंधु सर सुनइ जो पायउ। सबु कहँ गिरिवर नायक नेवति पठाएउ॥ धरिधरि सुंदर भेस चले हरषित हिए।……'* (५२-५३) इसपर वि० त्रि० कालिकापुराणका प्रमाण देते हैं—'**नद्यश्च पर्वताः सर्वे द्विरूपास्तु स्वभावतः। तोयं नदीनां रूपं तु शरीरमपरं तथा॥ स्थावरं पर्वतानां तु रूपं कायं तथा परम्। शुक्तीनामथ कम्बूनां यथैवान्तर्गता तनुः॥ बहिरस्थिस्वरूपं तु सर्वदैव प्रवर्त्तते। एवं जलं स्थावरं तु नदीपर्वतयोस्तदा॥ अन्तर्वसति कायस्तु सततं नोपपद्यते। नदीनां कामरूपित्वं पर्वतानां तथैव च। जगत्स्थित्यै पुरा विष्णुः कल्पयामास यत्नतः॥**'—[शैल नदी आदिके दो रूप होते हैं। स्थूलरूप तो वही है जैसा हमलोग देखते हैं, पर इसीके अन्तर्गत उनका दूसरा रूप है। जैसे शङ्ख और घोंघा आदिके दो रूप होते हैं, एक तो ऊपरवाली खोपड़ी जड़रूप, दूसरा भीतरका जन्तु चेतन रूप।] (ख) *'सुंदर तन धारी'* इति। सुन्दर शरीर धारण करनेका भाव यह है कि जिनके यहाँ जाना

* सहित समाज सोह—१७०४। सकल समाज सहित—को० रा०। सहित समाज सहित—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

है, वे सब सुन्दर हैं। हिमाचल, मेना और पुरवासी सभी सुन्दर हैं। यथा—*'बनिता पुरुष सुंदर चतुर छबि देखि मुनिमन मोहहीं।'* (९४ छन्द) (विवाहका समय है, ब्रह्मादि देवता बारातमें आ रहे हैं, अपने सब सम्बन्धी भी जुटेंगे; अतएव *'सुंदर तन'* धारण करके आना योग्य ही है। (ग) *'सहित समाज सहित बर नारी'* इति। इससे स्पष्ट है कि हिमाचलने सभीको न्योता दिया है इसीसे सब सपरिवार आये हैं। (घ) *'बर नारी'* अर्थात् जैसे उनके पति सुन्दर तनधारी होकर चले वैसे ही ये सुन्दर रूप धारण करके साथ चलीं।

गए सकल तु* हिमाचल गेहा। गावहिं मंगल सहित सनेहा॥ ६॥
प्रथमहि गिरि बहु गृह सँवराए। जथा जोगु तहँ तहँ सब छाए॥ ७॥
पुरसोभा अवलोकि सुहाई†। लागै लघु बिरंचि निपुनाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**जथाजोग**=यथायोग्य, जैसा चाहिये वैसा। छाना (अकर्मक क्रिया)=डेरा डालना, बसना, टिकना। यथा—*'राम प्रबरषन गिरि पर छाए॥'* (४। १२) *'चित्रकूट रघुनंदन छाए॥'* (२। १३४) **निपुनाई**=निपुणता, कौशल, रचना-चातुरी, कला-कौशल।

अर्थ—सब सादर हिमाचलके घर गये। सब प्रेमसहित मङ्गल गीत गा रहे थे॥ ६॥ हिमाचलराजने पहलेहीसे बहुत-से घर सजवा रखे थे। वहाँ-वहाँ वे सब यथायोग्य (जहाँ जिसके लिये जैसा उचित था, जिसको जहाँ सुपास था) टिक गये॥ ७॥ नगरकी सुन्दर शोभा देखकर ब्रह्माजीकी रचना-चातुरी तुच्छ लगती थी॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'गए सकल तु हिमाचल गेहा……।'* इति। (क) हिमाचलके घर गये। *'गेह'* कहनेका भाव कि हिमाचल पर्वत तो अनेक योजनका है। जहाँ उसका अधिष्ठातृ देवता हिमाचलराज रहता है वहाँ गये। (ख) *'गावहिं मंगल'* इति। विवाहके समय मङ्गलगान होता ही है; इसीसे स्त्रियाँ मङ्गल गाती हैं। ☞ प्रायः स्त्रियाँ ही मङ्गल गाया करती हैं; यथा—*'सुरसुन्दरी करहिं कल गाना।'* (६१) *'मंगल गान करहिं बर भामिनि'* इत्यादि। वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। (ग) *'सहित सनेहा'* इति। भाव कि इस विवाहोत्सवको अपने ही घरका मङ्गल समझती हैं, अतः प्रेमसे गाती हैं जैसे घरके उत्सवमें गातीं।

टिप्पणी—२ *'प्रथमहिं गिरि बहु गृह……'* इति। (क) ऊपर निमन्त्रित लोगोंका आना कहा, इसीसे यहाँ *'प्रथमहिं'* पद दिया। भाव कि न्योता देनेके साथ ही उनके टिकनेका पहले ही बन्दोबस्त कर दिया गया कि न जाने कब आ जायँ। *'बहु गृह'* सजवाये क्योंकि निमन्त्रित लोग बहुत हैं। (ख) *'सँवराए'* कथनका भाव कि ये सब घर पूर्वके ही बने हुए हैं, केवल सजाये गये हैं। अर्थात् इस समय केवल रचना-विशेष की गयी है। (ग) *'जथाजोग'* कहकर जनाया कि सबको उचित स्थान टिकनेको मिला; यथा *'उचित बास हिमभूधर दीन्हे'* (६५)। पूर्व *'लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं'* कहा था, अब उन्हीं सबोंका यथायोग्य बसना कहते हैं, इस तरह कि छोटेको छोटा स्थान, बड़ेको बड़ा, जो जैसा है वैसा ही स्थान

---

* तुहिनाचल—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। तु हिमाचल—१६६१, १७०४, वंदन पाठक। रा० प० में 'आएउ सकल हिमाचल गेहा' पाठ है। तुहिनाचल=तुहिन+अचल=हिमाचल। सं० १६६१ में 'तु हिमाचल' स्पष्ट है। 'तु' अव्यय होनेसे कई अर्थ देता है। जैसे कि 'निश्चय, तो, सादर' इत्यादि। यथा—'तु स्याद्भेदेऽवधारणे।' (अमरकोश ३। ३। २४१) पादपूर्तिके लिये भी बिना किसी अर्थके इसका प्रयोग होता है; यथा—'तु हि च स्म ह वै पादपूरणे।' (अमरकोश ३। ४। ५)—इस तरह एक तो पादपूर्तिके लिये समझ लें तो भी कोई अड़चन नहीं पड़ती। दूसरे यदि 'सादर' अर्थ लें तो यह भाव निकलता है कि सब लोग आदरपूर्वक हिमाचलके यहाँ गये। जब किसी हित, मित्र या पूज्यके यहाँ लोग निमन्त्रणमें जाते हैं तब समयानुसार कुछ भेंट अवश्य ले जाते हैं, विशेषकर कन्याके विवाहमें तो अवश्य ही। दूसरे राजा, गुरु एवं देवताओंके यहाँ खाली हाथ जानेका शास्त्रोंमें निषेध भी है—'रिक्तहस्तस्तु नोपेयाद्राजानं दैवतं गुरुम्।' 'तु' अव्यय देकर जनाया कि ये निमन्त्रित लोग भेंट लेकर आये। यथा—'धरि धरि सुंदर भेस चले हरषित हिए। चउँर चीर उपहार हार मनिगन लिए॥ (पार्वतीमङ्गल १। ५३) † न जाई—१७०४। 'सुहाई' औरोंमें।

उसको दिया गया।—ये सब स्थान हिमाचलके घरके भीतर हैं, क्योंकि न्योतहरी सब हिमाचलके घरमें गये हैं—*'गए सकल तु हिमाचल गेहा'।* घरमेंके ही घर सजवाये गये हैं, सबोंको घरमें ही वास दिया गया है। यह बात आगे प्रसङ्गसे भी निश्चित होती है। यहाँतक राजाके घर वर्णन किये। वितान और निमन्त्रित लोगोंका वर्णन हुआ आगे पुरका वर्णन करते हैं। आशयसे जनाया कि राजाका स्थान बड़ा भारी है कि जिसमें अनन्त लोगोंके रहनेका स्थान हो गया। [*'छाए'* शब्दसे जनाया कि कुछ दिनोंतक यहाँ निवास होगा। यथा—*'चित्रकूट रघुनंदन छाए।'* (२। १३४) *'बर्षाकाल मेघ नभ छाए।'* (४। १३) *'सकल सिद्धि संपति तहँ छाई।'* (१। ६५)।]

टिप्पणी —३ *'पुर सोभा अवलोकि सुहाई।'......'* इति। (क) ☞ जहाँ अत्यन्त शोभा दिखानी होती है, वहाँ ग्रन्थकार 'विधि' के बनानेकी उत्प्रेक्षा किया करते हैं। यथा—*'सिंहासनु अति दिव्य सुहावा। जाइ न बरनि बिरंचि बनावा॥'* (१। १००। ३), *'चारु बजारु बिचित्र अँबारी। मनिमय बिधि जनु स्वकर सँवारी॥'* (१। २१३। २) *'जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई॥'* (१। २३०। ६) *'कहा एक मैं आजु निहारें। जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे॥'* (१। ३११। ५), *'मनिखंभ भीति बिरंचि बिरची कनक मनि मरकत खची।'* (७। २७। छन्द) इत्यादि। (ख) *'लागै लघु बिरंचि निपुनाई'* इति। तात्पर्य कि ब्रह्माकी सृष्टिभरमें ऐसा सुन्दर नगर नहीं है। विरंचिकी निपुणताका नमूना घरमें मौजूद है। सिंहासन उनका बनाया हुआ है; यथा—*'सिंहासनु अति दिव्य सुहावा। जाइ न बरनि बिरंचि बनावा॥'* (१। १००। ३) यह निपुणता पुरकी शोभाके आगे लघु लगती है। यह कहकर जनाया कि पुर बड़ी कारीगरीसे बना है। यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलङ्कार' है। (त्रिपाठीजीका मत है कि 'अनुकरणकी वस्तु असलीसे अच्छी बनी हुई है। नकली कमल असलीसे सुन्दर बने हैं, इसलिये विरंचिकी निपुणता थोड़ी मालूम होती है।) (ग) पुरकी शोभा 'अत्यन्त' कहनेसे राजाके स्थान महल आदिकी विशेषता सूचित हो गयी, क्योंकि पुरसे राजाका स्थान विशेष सुन्दर होता ही है, इसीसे पुरकी शोभा अधिक कही गयी। (घ) प्रथम वितानकी रचना, निमन्त्रित लोगोंका आगमन और गृहोंका सँवारना कहकर तब पुरकी शोभा कहनेका भाव कि यह सब पुरकी शोभा है।

छंद—लघु लाग बिधिकी* निपुनता अवलोकि पुर सोभा सही।
बन बाग कूप तड़ाग सरिता सुभग सब सक को कही॥
मंगल बिपुल तोरन पताका केतु गृह गृह सोहहीं।
बनिता पुरुष सुन्दर चतुर छबि देखि मुनि मन मोहहीं॥

दोहा—जगदंबा जहँ अवतरी सो पुरु बरनि कि† जाइ।
रिद्धि‡ सिद्धि संपत्ति सुख नित नूतन अधिकाइ॥ ९४॥

शब्दार्थ—**तोरन**=बन्दनवार। मङ्गल अवसरोंपर आम, अशोक आदिके पत्तोंको सुतलीमें लगाकर या पुष्पोंकी माला बनाकर दीवारों, द्वारों, खम्भों आदिपर सजावटके लिये लटकानेकी रीति है। इन्हींको तोरण कहते हैं। संस्कृतमें 'तोरण' का अर्थ—'किसी घर या घरका बाहरी फाटक विशेषत: वह द्वार जिसका ऊपरी भाग मण्डपाकार तथा मालाओं और पताकाओं आदिसे सजाया गया हो'—ऐसा वाल्मीकीय आदिमें मिलता है। श्रीबैजनाथजीने *'तोरन'* का अर्थ 'मण्डपका फाटक' किया है। *'पताका', 'केतु'*—बाँस या

---

* कै—रा० प०।

† न जाइ—१७०४। ‡ रिधि सिधि संपति सकल सुख—१७२१, छ०, भा० दा०। रिद्धि-सिद्धि संपति सकल सुख—को० रा०। रिद्धि सिद्धि संपत्ति सुख—१६६१, १७०४।

कदम्ब, मोलसरी आदि लकड़ियोंके डंडे (पाँच हाथसे लेकर उन्नीस हाथतक लम्बे) जिनपर पताका फहराती है उन्हें ***'केतु'*** या ***'ध्वजा'*** कहते हैं। जो तिकोना या चौकोर कपड़ा ध्वजाके सिरेपर लगाया जाता है, उसे ***'पताका'*** कहते हैं। इसपर कोई-न-कोई चिह्न अवश्य होता है। ये रंग-बिरंगके होते हैं। पताका बिना डंडेके भी सुतली आदिमें लगाकर फहराते हैं। पुनः, **केतु**=झंडा, निशान, अलम। ***'पताका'***= फरहरा, झंडी।—मङ्गल कार्योंमें शोभाके लिये इनका व्यवहार होता है। आनन्दरामायण मनोहरकाण्ड हनुमद्ध्वजारोपण सर्गके अनुसार पाँच हाथतकके डंडेमें जब वस्त्र लगता है तब उसे ***'पताका'*** और इससे अधिक उन्नीस हाथतकके डंडेमें जब वस्त्र रहे तब उसे ***'ध्वजा या केतु'*** कहते हैं। **रिद्धि** (ऋद्धि)=समृद्धि, बढ़ती। ऋद्धि-सिद्धि=समृद्धि और सफलता।

अर्थ—नगरकी शोभा देखकर सचमुच (यथार्थ ही) ब्रह्माजीका कलाकौशल तुच्छ लगने लगा। वन, बाग, कुएँ, तालाब और नदियाँ सभी सुन्दर हैं। उन (की सुन्दरता) का वर्णन कौन कर सकता है? (कोई तो नहीं।) घर-घर बहुत-से मङ्गल तथा माङ्गलिक बन्दनवार,* पताका और ध्वजाएँ शोभित हो रही हैं। वहाँके सुन्दर चतुर स्त्री-पुरुषोंकी छटा देखकर मुनियोंके मन मोहित हो जाते हैं। जिस नगरमें स्वयं जगत्‌की माताने ही अवतार लिया क्या वह पुर वर्णन किया जा सकता है? (अर्थात् नहीं।) ऋद्धि-सिद्धि, सम्पत्ति और सुख नित्य नये बढ़ते जाते हैं॥ ९४॥

नोट—१ लमगोड़ाजी लिखते हैं कि—'मानो एक ओर शिवसमाज और दूसरी ओर हिमाचलपुरीका अनमिल बेजोड़पन एक अनुपम उदाहरणरूपमें रचा गया है। हास्यरसकी एक सूक्ष्म बात याद रहे कि शिवसमाजका चित्र तभी हास्यप्रद हो सकता है जब शिवगणोंका रूप भी भीतरसे कल्याणकारी और बाहरसे अशिव हो; अन्यथा यही दृश्य भयानक रसका सूचक हो सकता है। लड़के जो इस रहस्यको समझ नहीं सके भयभीत हुए और बड़े (सयाने) जो-जो इसे समझ सकते थे, उनके लिये वह हास्यका मसाला बना। बड़े शिव-बारातपर भी हँसते हैं और लड़कोंके भयपर भी।

टिप्पणी—१ ***'लघु लाग……'*** इति। (क) ***'सही'*** अर्थात् निश्चय ही लघु लगती है, इसीसे कविने वहीं उसी समय प्रथम ही लघु लगना लिख दिया था। यथा—***'लागै लघु बिरंचि निपुनाई।'*** (वि० त्रि० ***'सही'*** को शोभाका विशेषण मानते हैं। शोभा सही=सच्ची शोभा।) (ख) ***'लघु लाग……सही'*** इस कथनसे पाया गया कि पुरकी शोभा ब्रह्माजीके कला-कौशलसे बाहर है। यह भगवतीका चमत्कार है। (ग) ☞ यहाँ ***'लघु लाग……'*** यह पुरकी शोभा कही और आगे ***'मंगल बिपुल तोरन……'*** में फिर पुरकी शोभा कह रहे हैं, बीच ***'बन बाग'*** आदिकी शोभा कही है—ऐसा करके जनाया कि वन, बाग आदि शहरके बीचमें भी हैं। (घ) ***'बन बाग कूप तड़ाग……'*** इति। यह पुरके बाहरकी शोभा कहते हैं; यथा—***'सुमन बाटिका बाग बन……। सोहत पुर चहुँ पास।'*** (१। २१२) ***'पुर सोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर परम रुचिराई॥ देखत पुरी अखिल अघ भागा। बन उपबन बापिका तड़ागा॥ बापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं।……'*** (७। २९) (ङ) ***'सक को कही'***—कोई कह नहीं सकता, इसीसे केवल वन-बाग आदि सबके नामभर गिना दिये, उनकी सुन्दरता न कही। (च) ***'मंगल बिपुल तोरन……'*** इति। विपुल मङ्गल हैं। अर्थात् द्वार-द्वारपर चौकें पूरी गयी हैं, विचित्र स्वर्णके घट धरे हैं, माङ्गलिक वृक्ष लगे हैं, यथा ***'कंचन कलस बिचित्र सँवारे। सबनि धरे सजि सजि निज द्वारे॥ बंदनवार पताका केतू। सबन्हि बनाए मंगल हेतू॥ बीथी सकल सुगंध सिंचाई। गजमनि रचि बहु चौक पुराई॥'……*** (७। ९) पुरके बाहरकी शोभा कहकर अब पुरके भीतरकी शोभा कहते हैं। ***गृह गृह सोहहीं'*** कहकर जनाया कि पार्वतीजीके विवाहका उत्सव घर-घर हो रहा है। [पार्वतीमङ्गलमें ग्रन्थकारने यह रचनाएँ यों वर्णन की हैं—***'कहेउ हरषि हिमवान बितान बनावन। हरषित लगीं सुआसिनि मंगल गावन॥'*** (५३) ***'तोरन कलस चँवर धुज बिबिध बनाइन्हि। हाट***

*दूसरा अर्थ—प्रत्येक घरके फाटकपर अनेक माङ्गलिक ध्वजाएँ आदि शोभित हैं।

पटोरन्हि छाय सफल तरु लाइन्हि।' (५४)] (छ) *'बनिता पुरुष सुंदर चतुर'* कहनेका भाव कि चतुराई बिना सुन्दरता खण्डित है, अधूरी रहती है, *'सुंदर चतुर'* कहकर पूर्ण शोभा जनाई। (६-८) *'सुन्दर'* से शरीरकी शोभा कही और 'चतुर' कहकर अनेक शुभगुण सम्पन्न जनाया। यथा—*'पुर नर नारि सुभग सुचि संता। धरमसील ग्यानी गुनवंता॥'* (१। २१३) 'चतुर' से पवित्र, धर्मात्मा, ज्ञानी और गुणवान् जनाया। (ज) **'मुनि मन मोहहीं'** से सुन्दरताकी अतिशय बड़ाई कही कि जिनका मन *'बिधि प्रपंच बियोगी'* है, विधिकी निपुणतासे विरक्त है, वे भी मोहित हो जाते हैं। पुरकी शोभा कहकर तब यहाँतक पुरवासियोंकी शोभा कही गयी।

टिप्पणी—२ *'जगदंबा जहँ अवतरी'* इति। (क) ☞ अत्युक्तिका समाधान इसी प्रकार ग्रन्थकार सर्वत्र करते हैं यथा—*'बसइ नगर जेहि लच्छि करि कपट नारि बर बेषु। तेहि पुर कै सोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु॥'* (१। २८९) *'सोभा दसरथ भवन कइ को कबि बरनै पार। जहाँ सकल सुर सीसमनि राम लीन्ह अवतार॥'* (१। २९७) तथा यहाँ *'जगदंबा जहँ अवतरी……'*। (ख) *'जगदम्बा'* का भाव कि जो जगत्‌की उत्पत्ति करनेवाली हैं, जब वही अवतरीं तब उस जन्मभूमिकी शोभा कौन कह सके! तात्पर्य कि जगत्‌भरसे उसकी शोभा अधिक है। (ग) *'रिद्धि सिद्धि संपत्ति……'* यह दूसरा हेतु शोभाके अकथनीय होनेका है *'ऋद्धि सिद्धि संपत्ति'* अर्थात् अष्ट सिद्धियाँ और नवों निधियाँ सभी सुख नित्य नवीन अधिक होते हैं। इससे शोभा नहीं कही जा सकती। जब उमाजी गिरिराजके घरमें अवतरीं तबसे सिद्धियों और निधियोंने वहीं वास कर लिया। यथा—*'जब ते उमा सैल गृह जाईं। सकल सिद्धि संपति तहँ छाईं॥'* (६५) और जब विवाह होने लगा तब *'नित नूतन'* अधिक होने लगीं। *'नित नूतन अधिकाई'* कहनेसे प्रथमका (पूर्वका) वर्णन न्यून हो गया।

टिप्पणी—३ ☞ हिमाचलके यहाँ सब वस्तुओंकी शोभा अकथनीय है—यह इस प्रसंगमें दिखाया है। यथा—

(१) *'यहाँ हिमाचल रचेउ बिताना। अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना।'*
(२) *'बन बाग कूप तड़ाग सरिता सुभग सब सक को कही।'*
(३) *'बनिता पुरुष सुंदर चतुर छबि देखि मुनि मन मोहहीं।'*
(४) *'जगदंबा जहँ अवतरी सो पुर बरनि कि जाइ।'*
(५) *'सो जेवनार कि जाइ बखानी। बसहिं भवन जेहि मातु भवानी॥'* (९९)
(६) *'जेवँत जो बढ़ेउ अनंदु सो मुख कोटिहू न परै कह्यो।'* (९९)
(७) *'सिंघासन अति दिब्य सुहावा। जाइ न बरनि बिरंचि बनावा॥'* (१००)
(८) *'सुंदरता मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहुँ बदन बखानी।'* (१००)
(९) *'अन्न कनक भाजन भरि जाना। दाइज दीन्ह न जाइ बखाना॥'* (१०१)
(१०) *'पुनि पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेम कछु जाइ न बरना॥'* (१०२)

नोट—२ पार्वतीमङ्गलके वर्णनसे मिलान कीजिये। *'तोरन कलस चँवर धुज। गौरी नैहर केहि बिधि कहहु बखानिय। जनु रितुराज मनोजराज रजधानिय॥ जनु राजधानी मदनकी बिरची चतुर बिधि और ही। रचना बिचित्र बिलोकि लोचन बिथक ठौरहि ठौरही॥'* (५४-५५)

नगर निकट बरात सुनि आई*। पुर खरभरु सोभा अधिकाई॥ १॥
करि बनाव सजि† बाहन नाना। चले लेन सादर अगवाना॥ २॥
हिय हरषे सुरसेन निहारी। हरिहि देखि अति भए सुखारी॥ ३॥
सिव समाज जब देखन लागे। बिडरि चले बाहन सब भागे॥ ४॥

* जब—१७०४। सुनि—१६६१, १७२१, १७६२, छ०। † सब—१७०४, गौड़जी। सजि—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०।

शब्दार्थ—**खरभरु**=खड़बड़, चहल-पहल, धूमधाम। **बनाव**=शृङ्गार, सजावट। **अगवाना**। (संज्ञा पु०)—जब बारात कन्याके घरके पास आ जाती है तब कन्यापक्षके कुछ लोग खूब सज-धजकर गाजे-बाजेसहित आगे जाकर बारात और समधीसे मिलकर उनको सादर द्वारपर ले आते हैं, इन्हीं लोगोंको 'अगवान' कहते हैं। और, इस अभ्यर्थनाको '**अगवानी**' वा '**पेशवाई**' कहते हैं। **सजि**=सजाकर; भूषण-वस्त्रादिसे अलङ्कृत करके। **सेन**=सेना, समाज। **बिडरना**=विशेष डर जाना। यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है और इसका प्रयोग प्रान्तिक है। ***'बिडरि'***, यथा—***'हारे लै बिडारे जाइ पति पै पुकारे कही सुनो बजमारे मति जावो हरि गाइए।'***—(भक्तमाल भक्तिरसबोधिनी टीका क० *३१), **'भजे बिडरि बालक चहुँ ओरी'** (छात्रप्रकाश)*

अर्थ—बारातको नगरके निकट आयी सुनकर नगरमें चहल-पहल (मचने) से उसकी शोभा और भी बढ़ गयी॥ १॥ कन्या पक्षवाले अगवान लोग अपना-अपना बनाव शृङ्गार करके और अनेक प्रकारकी सवारियाँ सजाकर आदरपूर्वक अगवानी लेने चले॥ २॥ देवताओंके समाजको देखकर वे मनमें हर्षित हुए। और, विष्णुभगवान्‌को देखकर तो अत्यन्त ही सुखी हुए॥ ३॥ (किंतु) जब वे शिवसमाजको देखने लगे तब सब वाहन (घोड़े, हाथी, ऊँट आदि) डरसे भड़ककर तितर-बितर हो भागे॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'नगर निकट बरात सुनि आई।'''''*** इति। (क) ***'निकट सुनि'*** का भाव कि अभी बारात इतनी दूर है कि सुन पड़ी, देख नहीं पड़ती, नहीं तो ***'देखि'*** कहते। ☞ रीति है कि जब बारात निकट आ जाती है तब लोग अगवानीके लिये चलते हैं। निकट आनेका समाचार सुनकर सज-धजकर तैयार रहते हैं। (ख) ***'पुर खरभरु'*** जो स्थिर है वह चलायमान होवे यही 'खरभरु' कहलाता है। यथा—***'होनिहार का करतार को रखवार जग खरभरु परा।'*** (८४), ***'खरभरु नगर सोच सब काहू। दुसह दाह उर मिटा उछाहू॥', 'चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे।'*** (५। ३५), ***'सुनि आगमन दसानन केरा। कपि दल खरभरु भयउ घनेरा॥'*** (६। ९९) (ग) ***'सोभा अधिकाई'*** का भाव कि शोभा तो पुरमें पूर्वसे ही थी, यथा—***'पुर सोभा अवलोकि सुहाई।'''''*** (९४। ८), अब बारातका निकट आना सुनकर पुरमें चहल-पहल मच गयी है, अगवानीके लिये लोग तैयार हो रहे हैं, इसीसे अब शोभा अधिक हो गयी है। यही आगे लिखते हैं—***'करि बनाव'''''***।

टिप्पणी—२ (क) ***'करि बनाव सजि बाहन नाना।'*** इति। अगवानीमें वाहन मुख्य हैं, इसीसे वाहनोंका साजना कहा। ***'नाना'*** से जनाया कि बहुत हैं, हाथी, घोड़े, ऊँट आदि सभी हैं और अनेक जातिके हैं। प्रथम सब तैयारी करके तब लोग अगवानीको जाते हैं, इसीसे ***'सजि'*** पद दिया। (ख) ***'हिय हरषे सुर सेन निहारी'*** इति। प्रथम सुरसेनके देखनेसे पाया गया कि देवता लोग अलग-अलग होकर आगे हो गये हैं, शिवजीको पीछे छोड़ दिया है, इसीसे प्रथम देवसमाज देख पड़ा, पीछे शिवसमाज। ***'सुरसमाज'*** सब सुन्दर है, यथा—***'सुरसमाज सब भाँति अनूपा।'*** इसीसे सुरसमाजको देखकर हर्ष हुआ। (ग) ***'हरिहि देखि अति भए सुखारी'*** इति। एक चरणमें देवताओंको कहा, दूसरेमें विष्णुभगवान्‌को। देवताओंसे विष्णु-भगवान्‌को पृथक् कहकर जनाया कि ये सब देवताओंसे अधिक सुन्दर हैं। ***'अति भए सुखारी'*** का भाव कि देवसमाजको देखकर सुखी हुए और भगवान्‌को देखकर 'अति सुखी' हुए। (घ) ***'शिवसमाज जब'''''*** इति। शिवसमाज, यथा—***'नाना बाहन नाना बेषा। बिहसे सिव समाज निज देखा॥'*** (९३। ६) से ***'देखत अति बिपरीत'''''।'*** ९३ तक। (ङ) ***'बिडरि चले'''''*** से जनाया कि जो नाना वाहन यूथ-यूथ थे वे सब मारे भयके पृथक्-पृथक् होकर भागे; क्योंकि शिवसमाज बहुत भयंकर है। और, जो यूथ बँधे थे वे सब भी भागे और ***'बिडरि'*** चले। (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि शिवसमाजको देखकर हाथी-घोड़े ऐसे भड़के कि सवारोंके रोकनेपर भी न रुके, भाग निकले। अत: सवारका भागना न कहकर वाहनका भागना कहते हैं।)

नोट—१ सब वाहन एवं अधिकांश पैदल दर्शक हाथी-घोड़ोंके भड़कनेके कारण भगे। अगवानियोंका भागना नहीं समझना चाहिये, क्योंकि ये तो बारातको लेकर आयेंगे। ☞ बाराती प्राय: अपरिचित होते

हैं, इसीसे भेंट-प्रणाम किसीसे कोई नहीं करता, सवारसे सवार मिलते हैं, और लोग तमाशा देखते हैं। अतएव यहाँ भेंट या प्रणाम करना कुछ न कहा, केवल देखनाभर लिखा है। यथा—*'हिय हरषे सुरसेन निहारी'* (१) *'हरिहि देखि अति भए सुखारी'* (२) *'शिव समाज जब देखन लागे'* (३) *'देखन लागे'* में भाव यह है कि पूरा समाज नहीं देख पाये कि वाहन भड़ककर भगे। यह भी जनाया कि चकित होकर देख रहे हैं कि यह कैसी बेढंगी बारात है।

नोट—२ लमगोड़ाजी—*'बिडरि चले'* इस भगदड़का फिल्म-कला और हास्यप्रद चित्रण विचारणीय है। आगे चलकर लड़कोंका चित्रण *'भय कंपित गाता'* भी इन्हीं कलाओंका उदाहरण है।

धरि धीरजु तहँ रहे सयानें। बालक सब लै जीव परानें॥ ५॥
गए भवन पूछहिं पितु माता। कहहिं बचन भय कंपित गाता॥ ६॥

शब्दार्थ—**जीव**=प्राण। **पराने**=भागे।

अर्थ—समझदार ज्ञानवान् कुछ बड़ी अवस्थावाले धीरज धरकर वहाँ डटे रह गये और बालक (तो) सब प्राण लेकर भगे॥ ५॥ घरमें जानेपर पिता और माता पूछते हैं (तब वे) भयके मारे काँपते हुए शरीरसे वचन कह रहे हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'धरि धीरजु तहँ रहे सयानें।……'* इति। (क) **'तहँ रहे'** का भाव कि समाज देखकर डरे तो सयाने भी, पर वे धैर्य धारण करके रह गये, भागे नहीं। (ख) *'सयानें'* का भाव कि समझदार हैं, वे यह समझकर खड़े रहे कि ये हमें भक्षण न करेंगे, इनका वेष ही ऐसा है। और बालक लोग प्राण लेकर भगे कि कहीं ये हमें खा न जायँ। पुनः, *'बालक सब लै जीव परानें'* के सम्बन्धसे *'सयानें'* का अर्थ है—'अवस्थामें बड़े', 'वयोवृद्ध', 'समझदार', 'ज्ञानवान्', हाथी, घोड़ों आदिके सँभालनेमें कुशल, तथा जो शिवजीका स्वरूप भलीभाँति समझते थे, जो यह जानते हैं कि शिवजी असुरोंको मोहित करनेके लिये ही यह अमङ्गल वेष धारण किये हुए हैं पर वस्तुतः हैं मङ्गलराशि। यथा पद्मपुराणे—'**त्वं च रुद्र महाभाग मोहनार्थं सुरद्विषाम्। पाखण्डाचरणं धर्मं कुरुष्व सुरसत्तम॥ एवं देवहितार्थाय वृत्तिं वेदविगर्हिताम्। विष्णोराज्ञाम्पुरस्कृत्य कृतं भस्मादिधारणम्॥ बाह्यचिह्नमिदं देवि मोहनार्थं सुरद्विषाम्। अन्तरे हृदये नित्यं ध्यात्वा देवं जनार्दनम्॥**' (उत्तरखण्ड अ० २३५ श्लोक० २८—३०) अर्थात् हे देवश्रेष्ठ महाभाग रुद्रजी! आप असुरोंको मोहित करनेके लिये पाखण्डके आचरण ग्रहण करें। भगवान् विष्णुकी इस आज्ञाके अनुसार देवताओंके हितार्थ वेदविरुद्ध निषिद्ध आचरण हमने धारण कर लिये। चिताकी भस्म रमाने, मुण्डमाल और सर्पादि धारण करने लगे। श्रीशिवजी कहते हैं कि हृदयमें तो मैं सदैव जनार्दनभगवान्‌का ही ध्यान करता हूँ। विशेष पूर्व (२६। १) *'साज अमंगल मंगलरासी'* (भाग १) देखिये। (ख) बालक और पशु अज्ञानी हैं, वे भगे। सयाने जिनके ज्ञान है वे वहीं बने रहे। सयानोंने अपने ज्ञानसे धीरज धरा, जो बालक हैं वे अज्ञानके कारण धीरज न धर सके, अतः भगे।

टिप्पणी—२ *'बालक सब लै……'* इति। (क) बालकके साथ *'सब'* विशेषण दिया, *'सयानें'* के साथ कोई विशेषण नहीं दिया। इससे जनाया कि बालकोंमेंसे वहाँ कोई न रह गया, सभी भाग गये। सवार भी सब भागे; यथा—*'बिडरि चले बाहन सब भागे।'* *'सयाने'* के साथ *'सब'* विशेषण न देनेका तात्पर्य यह है कि कुछ भागे, कुछ वहीं रहे। (ख) ☞ बालक, युवा और वृद्ध तीनों अगवानीमें थे। जिस क्रमसे अगवानी लेने चले, उसी क्रमसे ग्रन्थकार लिखते हैं। युवा सवारीमें आगे-आगे थे। उनके वाहन उन्हें ले भागे, न तो वे समयपर घर गये और न वहाँ ही रहे। अतः ग्रन्थकारने उनका हाल कुछ न लिखा। उनके पीछे सयाने थे, वे वहीं खड़े रहे, उन्हींने अगवानी करके बारातको ले जाकर जनवासेमें ठहराया इनके पीछे बालक थे जो भागकर घर आये और सब वृत्तान्त कहा। (ग) बालकका प्राण लेकर भागना कहा; क्योंकि उनको बारात यमराजकी सेना-सी देख पड़ी; यथा *'जम कर धार कि धौं बरिआता'।* यमदूत प्राण हरण करने आते हैं, इसीसे 'प्राण लेकर' भागना कहा कि कहीं ये ले न लें।

टिप्पणी—३ *'गए भवन पूछहिं पितु माता।……'* इति। (क) *'पूछहिं'* से जनाया कि घर जाकर इन्होंने बारातका हाल स्वयं न कहा; क्योंकि भयसे व्याकुल हैं। भयसे शरीर काँप रहा है। भयके मारे मुँहसे बात नहीं निकलती और मनमें भय भरा अर्थात् तन-मन-वचन तीनोंसे भयको प्राप्त हैं, इसीसे पिता-माताको पूछना पड़ा। माता-पिताको चिन्ता हो गयी कि एकायक इसको क्या हो गया, कोई रोग तो नहीं हो गया जो यह थर-थर काँप रहा है। पूछनेपर इन्होंने कहा। [(ख) प्रथम पिताको लिखा, तब माताको क्योंकि पिता घरके बाहर बैठे हुए पहले मिले तब माता। (ग) वाहनों और बालकोंका अयथार्थ भयवर्णन 'भयानक रसाभास' है। (वीरकवि)]

कहिअ* काह कहि† जाइ न बाता। जम कर धार कि धों बरिआता॥७॥
बरु बौराह बसह‡ असवारा। ब्याल कपाल बिभूषन छारा॥८॥

शब्दार्थ—**बरिआत**=बारात। **बौराह**=बौरहा, बावला, पागल। ***बसह*** (सं० वृषभ)=बैल। **असवार**=चढ़ा हुआ सवार। (क्षार)=राख, भस्म।

अर्थ—क्या कहें? कुछ बात कही नहीं जाती। भला यह यमकी सेना है कि बारात है? ॥ ७॥ दूलह पागल है, बैलपर सवार है। सर्प, मनुष्योंकी खोपड़ियाँ (नरमुंडमाला) और राख ही उसके विभूषण (भूषणविशेष) हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'कहिअ काह……'* इति। (क) कहना तो चाहिये था कि 'बारात है कि यमकी सेना है, पर ऐसा न कहकर कहा कि 'यमकी सेना है कि बारात'। क्योंकि वे इसे निश्चय ही यमकी सेना समझे हुए हैं। इसीसे *'जम कर धार'* में *'धों'* नहीं कहते, *'बरिआत'* में *'धों'* कहते हैं। बारात होनेमें संदेह है, निश्चय नहीं है। यहाँ संदेहालङ्कार है। (ख) यमके दर्शनसे शरीर काँपने लगता है, बोल नहीं निकलता। इन्हें यमकी सेना देख पड़ी, इसीसे ये बीचमें न रुके, घरमें जा घुसे। घरमें माता-पिता बारातका हाल पूछते हैं तो उसपर कहते हैं कि *'कहिअ काह'* क्या कहें? अर्थात् आप जो पूछते हैं सो तो कही नहीं जाती। फिर आगे कुछ कहते हैं। पुनः भाव कि तुम क्या पूछते हो, हमसे तो बोला भी नहीं जाता, कहें तो क्या कहें और कैसे कहें। (ग) शिवसमाज किसीसे भी कुछ कहते नहीं बनता; यथा *'बहु जिनस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बने॥'* (९३) तब इन बेचारे बालकोंसे कैसे कहते बने।

टिप्पणी—२ *'बरु बौराह बसह……'* इति। (क) बारातको कहकर अब वरका हाल कहते हैं। ☞ जो बारात देखने जाते हैं, वे बारात देखते हैं, वरकी सवारी देखते हैं, वरके आभूषण देखते हैं, इत्यादि। वैसे ही ये सब देखने लगे देखनेपर सब विपरीत ही देख पड़ा, वह यह कि वर उत्तम सवारीपर चढ़ता है, घोड़ेपर या पालकीमें प्रायः चढ़ता है पर यह बैलपर सवार है। वर सोनेके बाले, कंकण आदि पहनते हैं और यह सर्पोंको पहने है। वर मोहनमाल, मोतियों या मणियोंकी माला पहनते हैं और यह नरमुण्डमाल पहने है। वर पीताम्बर आदि धारण करते हैं और यह नंगा है। वर अतरचन्दनादि लगाये रहते हैं और यह श्मशानकी भस्म रमाये है। बारातमें सुन्दर-सुन्दर बाराती आते हैं, इसके बाराती भूत-प्रेत-पिशाच हैं। तात्पर्य कि यहाँ तो एक बात भी अच्छी नहीं है। (ख) वरको बौरहा कहकर 'बौरहा' के लक्षण कहते हैं—*'बसह असवारा……'* इत्यादि। सवारीपर प्रथम दृष्टि पड़ी, क्योंकि बड़ी है, इसीसे प्रथम सवारी कहकर तब आभूषण कहे।

छं०—तन छार ब्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा।
संग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकट मुख रजनीचरा॥

* कहा-पाठान्तर। † जात-१७०४। ‡ बरद-१७०४, १७२१, १७६२, छ०। बसह-१६६१।

जो जिअत रहिहि बरात देखत पुन्य बड़ तेहि कर सही।
देखिहि सो उमा बिबाह घर घर बात असि लरिकन्ह कही॥

शब्दार्थ—**जटिल**=जटाधारी। **जटा**=एकमें उलझे हुए सिरके बहुत बड़े-बड़े बाल। **रजनीचर**=निशिचर। **जोगिनि** (योगिनी)=रणदेवियाँ जो रणमें कटे-मरे मनुष्योंके रुण्डमुण्डको देखकर आनन्दित होती हैं और मुण्डोंको गेंद बनाकर खेलती हैं।

अर्थ—(वरके) शरीरपर भस्म लगी है, सर्प और मुण्डमाल उसके आभूषण हैं। वह नंगा, जटाधारी और भयंकर है। उसके साथ भयंकर मुखवाले भूत-प्रेत-पिशाच, योगिनियाँ और निशाचर हैं। जो कोई बारातको देखता जीवित बच जायगा सचमुच ही उसके बड़े पुण्य होंगे। वही उमाजीका विवाह देखेगा। —घर-घर लड़कोंने ऐसी बातें कहीं।

टिप्पणी—१ *'तन छार ब्याल……'* इति। (क) सब आभूषणोंके स्थान (अर्थात् कौन किस अङ्गमें हैं) पूर्व *'जटा मुकुट अहिमौर सँवारा॥ कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तन बिभूति पट केहरि छाला॥……गरल कंठ उर नर सिर माला।'* दोहा ९२ में लिख आये, इसीसे यहाँ आभूषणभर कहे, उनके स्थान न कहे। (ख) *'भयंकरा'* से आभूषण, रूप और साथियों, साथके गणोंको भयंकर जनाया। *भयंकरा'* दीपदेहली है। (ग) शङ्का—शिवजी चाहते तो गणोंसमेत सुन्दर रूप धारण कर लेते तब उन्होंने मङ्गलसमयमें अमङ्गल रूप क्यों धारण किया? समाधान—महात्मा देवर्षि नारदका वचन है कि *'जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष। अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख॥'* (६७) उनके वचन सत्य करनेके लिये वे पार्वतीजीको अमङ्गलवेषसे प्राप्त हुए।—*'मृषा न होइ देवरिषि भाषा'* [यह शिवजीका सहज वेष भी है। इस वेषसे पार्वतीजीकी अकामता भी प्रतीत हुई है। जैसे श्रीरामजी नारदवचन सत्य करते हैं, यथा *'नारद बचन सत्य सब करिहौं'* वैसे ही शङ्करजी उनके वचन सत्य करते हैं। शिवजीके इस विवाह शृङ्गारमें शृङ्गाररसका कहीं पता नहीं है यह विशेष ध्यानमें रखनेकी बात है। रौद्र और शृङ्गारको छोड़ अन्य सब रसोंका अस्तित्व शिवशृङ्गारमें है। समन्वयकी यह सावधानता कितनी सराहनीय है। काम नहीं है, अत: शृङ्गार नहीं है। प० प० प्र०] (घ)[नोट—शिवजीका बाघाम्बर पहने होना पूर्व कह आये हैं; यथा—*'तन बिभूति पट केहरि छाला'* और यहाँ *'नगन जटिल'* अर्थात् नंगा होना कहते हैं। इससे जान पड़ता है कि बाघाम्बर लँगोटीकी तरह नहीं पहने हैं, किन्तु उसे केवल ऊपरसे डाले हुए हैं। बालक छोटे हैं और नीचे खड़े हैं। शिवजी नन्दीश्वरपर सवार हैं। इसीसे लड़कोंको नंगे दिखायी पड़े।]

टिप्पणी—२ *'संग भूत प्रेत पिसाच……'* इति। (क) वरका वर्णन कर अब बारातियोंका वर्णन क्रमश: कहते हैं कि सङ्गमें भूतप्रेतादि हैं। प्रथम कहा कि बारात यमराजकी सेना है। यहाँ यमकी सेनाका अर्थ खोल दिया कि यही सब भूत-प्रेत-पिशाचादि ही यमकी सेना है। वर स्वयं भयंकर है और भयंकरोंको साथमें लिये है। (ख) ☞ देवताओंने प्रथमसे ही सङ्ग छोड़ दिया, इसीसे देवताओंको सङ्गमें नहीं कहते, भूत-प्रेत सङ्ग हैं, अत: उन्हें कहते हैं। *बिकट*=भयंकर। अर्थात् खा ही जायँगे। (ग) *'जो जिअत रहिहि……'* इति। ऊपर *'बिकट मुख रजनीचरा'* कहा। (रजनीचर मनुष्योंको खा जाते हैं; यथा *'नर अहार रजनीचर चरहीं॥'* (२। ६३) इससे जनाया कि ये भयंकर-मुख हैं, अवश्य सबको भक्षण कर लेंगे। जो कदाचित् अभी न भक्षण करेंगे तो भी बारात देख लेनेपर कोई भी न जीवित बचेगा, सब छले जायँगे। (घ) *'जो' 'रहिहि'* एकवचन देनेका आशय यह है कि बारात देखकर सब न जीवित रहेंगे, कोई एक (चाहे) जीता बच जाय। जो कोई एक बच गया उसके बड़े पुण्य होंगे। (ङ) *'पुन्य बड़ तेहि कर सही'* इति। भाव कि पुण्यपुरुष ही यमकी सेनासे बचते हैं, पापी मारे जाते हैं। *'जो'* संदिग्ध वचन है। तात्पर्य कि पहले तो कोई जियेगा नहीं, यदि कोई जिया भी तो वही जिसके *'बड़ पुन्य'* बहुत बड़े पुण्य होंगे, छोटे पुण्यवाला न बचेगा। *'सही'* का भाव कि पुण्य बड़ा और सही होगा तभी बचेगा, अन्यथा नहीं। पुन: भाव कि जिस पुण्यमें विघ्न हुआ होगा उस पुण्यसे नहीं बच सकेगा।

टिप्पणी—३ *'देखिहि सो उमा बिबाह'* इति। (क) *'जो'* का सम्बन्धी *'सो'* यहाँ है। *'जो जिअत रहिहि' 'सो बिबाह देखिहि।'* (ख) *'उमा बिबाह'* कहा क्योंकि यहाँ *'उमा'* प्रधान हैं; कन्यापक्षवालोंमें कन्याकी प्रधानता रहती है, अतः *'उमा बिबाह'* कहा। वरपक्षके होते तो *'शिवबिबाह'* कहते। (ग) *'घर घर बात असि लरिकन्ह कही'* इति। घर-घर कहनेका भाव कि देखनेकी इच्छा लड़कोंको बहुत रहती है; इसीसे घर-घरके लड़के बारात देखने आये थे।

☞ मिलान कीजिये—*'घरघर बालक बात कहन लागे तब॥ प्रेत बेताल बराती भूत भयानक। बरद चढ़ा बर बाउर सबइ सुबानक॥'* (१०६) *कुसल करइ करतार कहहिं हम साँचिअ। देखब कोटि बिआह जिअत जौं बाँचिअ॥'* (१०७) (पार्वतीमंगल)।

प० प० प्र०—भयानक रसकी महिमा तो देखिये। कपाल शिवगणोंके हाथमें है। पर बालकोंने उसे शिवजीके हाथमें ही रख दिया। शिवसमाजमें योगिनी, चामुण्डा आदि स्त्रियाँ हैं ही नहीं तथापि बालकोंकी भयाकुल बुद्धि योगिनियोंका अस्तित्व भी बखाना। भयग्रस्त बालकोंके स्वभावका यहाँ यथातथ्य वर्णन किया है।

दो०—समुझि महेस समाज सब जननि जनक मुसुकाहिं।
बाल बुझाए बिबिध बिधि निडर होहु डरु नाहिं॥ ९५॥

अर्थ—महादेवजीका सारा समाज समझकर सब माता-पिता मुस्कुराने लगे और उन्होंने बालकोंको अनेक प्रकारसे समझाया कि निडर हो जाओ, कोई डरकी बात नहीं है॥ ९५॥

टिप्पणी—१ (क) लड़के यमकी धार समझकर डरे और माता-पिता महेशका समाज समझकर हँसे कि शिवजीका समाज ही ऐसा है। [☞ लड़कोंने जिस तरह सारे दृश्यका बखान किया है वह कितना भयानक है? परन्तु कविकी हास्यकलाका लुत्फ देखिये कि इस भयानक दृश्यसे भी हँसी आती है। *'जननि जनक मुसुकाहिं'* का हास्य दो तरफा है। हँसी एक ओर तो भङ्ग घोटना बाबाके समाजपर आती है और दूसरी ओर लड़कोंकी बुद्धिपर। *'बर बौराह बरद असवारा'* तो एक हास्यपद जनश्रुति बन गया है। सारा दृश्य फिल्मकलासे ओतप्रोत है।—(लमगोड़ाजी)] (ख) *'बाल बुझाए बिबिध बिधि'* इति। बहुत प्रकारसे समझाना कहा क्योंकि लड़के घर-घरके हैं, बहुत हैं, घर-घरके माता-पिता भी मिलकर बहुत हैं, किसीने कुछ कहकर समझाया, किसीने कुछ और कहकर समझाया, इत्यादि बहुत प्रकार हुआ। अथवा, बालक बहुत डरे हुए हैं; यथा—*'बालक भभरि भुलान फिरहिं घर हेरत'* (पार्वतीमंगल ६४) इसीसे प्रत्येकको विविध प्रकारसे समझाना पड़ा कि डर छूट जाय। (ग) *'निडर होहु……'* का भाव कि लड़के बिना डरके डरे हुए हैं—(यह भी डर छुड़ानेका एक ढङ्ग है)।

लै अगवान बरातहि आए। दिए सबहि जनवास सुहाए॥ १॥
मैना सुभ आरती सँवारी। संग सुमंगल गावहिं नारी॥ २॥

अर्थ—अगवाने लोग बारातको ले आये और सबोंको सुन्दर-सुन्दर जनवासा (ठहरनेको) दिया॥ १॥ श्रीमेनाजीने मङ्गल आरती सजायीं; साथमें स्त्रियाँ सुन्दर मङ्गलाचारके गीत गा रही हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'लै अगवान……'* इति। पूर्व कह आये हैं कि *'धरि धीरज तहँ रहे सयाने'*, यही सयाने जो वहाँ रह गये थे वे ही बारातकी अगवानी कर बारातको ले आये। पुनः पूर्व कहा था कि आदरपूर्वक अगवानी लेने चले—*'चले लेन सादर अगवाना।'* (९५। २) अब यहाँ अगवानी ले आना कहा। ☞ यहाँतक 'अगवानी' की रस्मका वर्णन हुआ। (ख) *'दिए सबहि जनवास……'*—*'दिए'* और *'सुहाए'* बहुवचनपद देकर जनाया कि बहुत-से जनवासे दिये। सबको न्यारे-न्यारे (पृथक्-पृथक्) जनवासे दिये क्योंकि सब एक जनवासेके लायक नहीं हैं। देवता, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि अनेक जातिके बाराती हैं। सब अलग-अलग ठहरे यह आगे स्पष्ट है, यथा—*'अचवाइ दीन्हे पान गवनें बास जहँ*

जाको रह्यो।' (९९) इससे पाया गया कि सबका निवास पृथक्-पृथक् था। (ग) *'सुहाए'* बहुवचनमें प्रयोग किया गया है; यथा—*'कलपभेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥'* (१। ३३), *'जहँ जहँ तीरथ रहे सुहाए। मुनिन्ह सकल सादर करवाए॥'* (१। १४३), *'तिन्हके निकट बिसाल सुहाए। धवल धाम बहु बरन बनाए॥'* (१। २२४), *'नवपल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुररूख लजाए॥'* (१। २२७) *'देखन बागु कुँअर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए॥'* (१। २२९) इत्यादि। यदि एक ही जनवासा होता तो *'सुहावा'* एकवचन—पद देते। यथा—**मध्य बाग सरु सोह सुहावा।'** (१। २२७), *'प्राची दिसि ससि उयउ सुहावा।'* (१।२३७), *'सीस जटा ससि बदनु सुहावा।'* (१।२६८), *'सिंहासन अति दिव्य सुहावा'।* (१। १००) इत्यादि। (घ) *'सबहि'* का भाव कि कोई यह न समझे कि देवता उत्तम जनवासेके योग्य हैं और भूत-प्रेतादि उत्तम निवासस्थानके योग्य नहीं हैं, अतः देवताओंको अच्छे जनवासे मिले होंगे और भूत-प्रेतोंको बुरे। सभीको सुन्दर उत्तम जनवासे दिये गये। सबका समान आदर किया गया।

टिप्पणी—२ *'मैना सुभ आरती सँवारी।'''''* इति। (क) *'मैना सँवारी'* कहनेसे पाया गया कि मेनाजीने अपने हाथों आरती सजायीं। इससे रानी मेनाजीकी श्रद्धा दिखायी। (ख) *'सुभ आरती'* इति। शुभ और मङ्गल पर्याय हैं,यथा— **'श्वः श्रेयः शं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभमित्यमरे।'** विवाहके पूर्व वरका परछन होता है; यथा—*'सजि आरती अनेक बिधि मंगल सकल सँवारि। चलीं मुदित परिछन करन गजगामिनि बर नारि॥'* (१। ३१७) पुनः*'सुभ आरती'* से परछनके साज-सामग्रीका ग्रहण हुआ। यथा *'रामु दरस हित अति अनुरागीं। परिछन साजु सजन सब लागीं॥ हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगल मूला॥ अच्छत अंकुर रोचन लाजा। मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा॥'* (१। ३४६) यहाँ *'सुभ आरती सँवारी'* कहकर आगे *'परिछन चली हरहि'* कहनेसे स्पष्ट हुआ कि आरती करना ही *'परिछन'* है। (परन्तु इसमें आरतीके अतिरिक्त और भी रीतियाँ होती हैं)। (ग) *'संग सुमंगल गावहिं नारी'* इति। *'संग नारी'* कहकर श्रीमेना अम्बाजीकी प्रधानता जनायी। अर्थात् मेनाजी गाती हैं और उनके सङ्गमें और स्त्रियाँ भी मिलकर गा रही हैं। *'मैना'* शब्दके साथ *'गावहिं'* बड़ा चोखा है। इनका स्वर मधुर है इसीसे *'मैना'* नाम है, मानो *'मैना'* (सारिका) ही हैं।—[पं० रामकुमारजीका यह मत है, पर अधिकांश लोगोंके अनुसार मेनाजी नहीं गा रही हैं। केवल स्त्रियाँ गा रही हैं। मेनाजीपर ६८ (३) में लिखा जा चुका है।]

कंचन थार सोह बर पानी। परिछन चली हरहि हरषानी॥ ३॥
बिकट बेष रुद्रहि जब देखा। * अबलन्ह उर भय भएउ बिसेषा॥ ४॥

शब्दार्थ—**कंचन**=सोना, सुवर्ण। **परिछन** (परछन)=विवाहकी एक रीति जिसमें बारात घरपर आनेपर कन्यापक्षकी स्त्रियाँ वरके पास जाती हैं और उसे दही, अक्षतका टीका लगाती हैं, उसकी आरती उतारती हैं तथा उसके ऊपरसे मूसल, बट्टा आदि घुमाती हैं। (श० सा०) वरके घरपर भी वरपक्षकी स्त्रियाँ माँ, भावज इत्यादि भी परछन करती हैं। कोई-कोई *'परछन'* को 'परीक्षण' का अपभ्रंश कहते हैं और कहते हैं कि यह वरकी परीक्षा है और कोई इसे 'परि+अर्चन' का अपभ्रंश मानते हैं। **थार** (थाल)—काँसे या पीतल आदिका बड़ा छिछला थालीसे बहुत बड़ा बर्तन।

अर्थ—सुन्दर हाथोंमें सोनेका थाल शोभित है। (इस प्रकार वे) हर्षपूर्वक महादेवजीका परछन करने चलीं॥ ३॥ जब उन्होंने विकट (भयंकर) वेषवाले रुद्रको देखा तब स्त्रियोंके हृदयमें बहुत अधिक भय उत्पन्न हो गया॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'कंचन थार सोह'''''* इति। (क) *'संग सुमंगल गावहिं नारी'* और *'परिछन चली हरहि हरषानी'* से सूचित किया कि घरसे सब गाते हुए चलीं। (ख) *'कंचन थार'*—इसमें परछनका

* अबलन्हि—१७०४, को० रा०। अबलन्ह—१६६१, १७२१, १७६२।

सब मङ्गल द्रव्य रखा हुआ है जो पूर्व शुभ आरतीकी टिप्पणीमें कह आये। थालमें आरती भी सजायी हुई होती है। (ग) *'बर पानी'* कहकर हाथोंको कमल-समान जनाया। *'बर पानी'* अर्थात् हस्तकमलमें। यथा—*'कनक थार भरि मंगलन्हि कमल करन्ह लिये मात। चलीं मुदित परिछनि करन पुलक पल्लवित गात॥'* (१। ३४६) (घ)*'परिछन चली हरहि.......'*—हरका परछन करने चलीं और हर्षित हैं। तात्पर्य यह कि शिवजीका दर्शन होगा इस विचारसे हर्षित हैं। दर्शनके लिये हर्ष हुआ कि दर्शन करके आरती उतारेंगी। यथा—*'रामदरस हित अति अनुरागीं। परिछनि साज सजन सब लागीं॥'*(१। ३४६) (इसीसे यहाँ *'हर'* शब्द दिया। जो क्लेशोंके हरनेवाले शिव हैं उनकी हम दूलहरूपमें आरती करेंगी। साधारणतः भी वरको देखने आदिका उत्साह सासु आदिको होता ही है और मङ्गलकार्य भी है, अतः हर्ष होना स्वाभाविक है।)

टिप्पणी—२ (क) ☞ इस प्रसङ्गभरमें श्रीमेनाजीकी प्रधानता दिखायी है।—शुभ आरती सँवारनेमें प्रधान हैं—*'मैना सुभ आरती सँवारी।'* गानेमें प्रधान हैं, स्त्रियाँ तो सङ्गमें गाती हैं—*'संग सुमंगल गावहिं नारी'।* शोभामें प्रधान हैं—*'कंचन थार सोह बर पानी।'* चलनेमें प्रधान हैं—*'परिछन चली हरहि हरषानी।'* (ख) पुनः, यहाँतक आरती, गान, थाल, हाथ और स्नेहकी शोभा कही। *'आरती सँवारी'* से आरतीकी, *'सुमंगल गावहिं'* से गानकी, *'कंचन थार'* से थालकी, *'बर पानी'* से हाथकी और *'हरषानी'* से स्नेहकी शोभा कही।

टिप्पणी—३ *'बिकट बेष रुद्रहि.....'* इति। (क) विकट अर्थात् भयङ्कर; यथा—*'तन छार ब्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा'* इसीसे अबलाओंको विशेष भय हुआ। (ख) *'रुद्रहि देखा'* से पाया गया कि और गणादि सङ्गमें कोई नहीं हैं, रुद्र अकेले ही हैं। यह बात आगेके *'गए महेस जहाँ जनवासा'* से स्पष्ट है; क्योंकि जनवासेको जाते समय भी कोई गण साथमें नहीं कहा गया। (सम्भव है कि भूत-प्रेतादि बहुत कुरूप एवं नंगे थे जिन्हें देख लड़के भय खाकर प्राण लेकर भाग आये थे, इसीसे यह समझकर कि अब स्त्रियाँ परछन करने आयँगी, अतः गणादिको जनवासेमें रहने दिया हो ; अथवा, देवताओंमें यह रीति ही हो कि बाराती जनवासेमें ठहरा दिये जाते हैं, केवल वर परछनके लिये कन्याके द्वारपर आता है क्योंकि यहाँ शङ्करजीके अतिरिक्त कोई भी बाराती नहीं कहा गया। *'जब देखा'* का भाव कि विकट वेष तो नारदजीसे सुना था, यथा—*'नगन अमंगल बेष'* पर देखना दूसरी बात है। सुननेसे डरी न थीं, देखनेसे डरीं। (ग) शिवजीका रूप—वेष देखकर स्त्रियाँ भयको प्राप्त हुईं, इसीसे यहाँ 'रुद्र' नाम दिया। रुद्र भयानक हैं, उन्हें देखकर डर लगता ही है। यथा—*'रुद्रहि देखि मदन भय माना।'* (१। ८६) (घ)*'अबलन्ह उर भय'* कहनेका भाव कि भय तो पुरुषोंको भी हुआ और वे तो बेचारी *'अबला'* ही हैं, अतः इनको विशेष भय हुआ तो आश्चर्य ही क्या? ऐसा होना तो उचित ही था। (ङ) *'भय बिसेषा'* का भाव कि भय तो औरोंको भी हुआ। बालकोंको, वाहनोंको, अगवानोंको, सभीको भय हुआ था, केवल सयाने लोग ही धैर्य धारण कर वहाँ रह गये थे और सब तो भाग ही गये। पर, अबलाओंको 'विशेष' भय हुआ, क्योंकि भयभीत होना तो नारि-स्वभाव ही है; यथा—*'नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥.......भय अबिबेक असौच अदाया ॥'* (६। १६) [*'बिसेष भय'* के और भाव ये हैं—(१) शङ्कर-समाज देखकर भय हुआ और ये तो सिरसे पैरतक सर्प लपेटे थे, इससे इन्हें देख विशेष भय हुआ। (२) ब्रह्मा-विष्णु आदि और उनके समाजोंको देखकर बहुत हर्ष हुआ था, उनके बाद एकदमसे विकट विकराल स्वरूप देख पड़ा, इसीसे 'विशेष हर्ष विशेष भय' में परिवर्तित हो गया; वे परम भयभीत हो गयीं। (३) आरती देखकर सर्प लपलपाये, अतः बहुत डर गयीं।]

☞ नोट—यह चित्र भी हास्यप्रद है परन्तु यहाँ हँसी टिकाऊ नहीं है। कारण कवि स्वयं आगे लिखता है। (लमगोड़ाजी) स्त्रियोंका अयथार्थ भय 'भयानक रसाभास' है।

भागि भवन पैठीं अति त्रासा। गए महेसु जहाँ जनवासा॥ ५॥
मैना हृदय भएउ दुखु भारी। लीन्ही बोलि गिरीसकुमारी॥ ६॥

शब्दार्थ—**पैठीं** (सम्भवतः 'प्रविष्ट' का अपभ्रंश 'पैठना' है)=घुस गयीं, घरके भीतर चली गयीं। यथा—'***चलेउ नाइ सिरु पैठेउ बागा।***' (५। १८)

अर्थ—अत्यन्त भयके मारे भागकर वे सब घरमें घुस गयीं और महादेवजी जहाँ जनवासा था वहाँ चले गये॥ ५॥ श्रीमेनाजीके हृदयमें भारी दुःख हुआ। उन्होंने गिरीशकुमारी श्रीपार्वतीजीको बुला लिया॥ ६॥

टिप्पणी—१ '***भागि भवन पैठीं***......' इति। (क) बालक डरे थे, अतः वे भागकर घरमें चले गये; यथा—'***बालक सब लै जीव पराने। गए भवन***......'; और इनके सम्बन्धमें कहते हैं कि ये भागकर '***भवन पैठीं***' भवनमें पैठ गयीं। वहाँ '***गए***' और यहाँ '***पैठीं***' शब्द देकर स्त्रियोंके '***अति त्रास***' का स्वरूप दिखाया है। (ख) '***अति त्रासा***' का भाव कि बालकोंको '***त्रास***' हुई और स्त्रियोंको '***अति त्रास***' हुई । अथवा, अबलाओंके उरमें विशेष भय हुआ इसीसे '***अति त्रास***' हुई (ग) '***गए महेसु***......' इति। इससे जनाया कि शिवजी परछन करानेको खड़े रहे, जब स्त्रियाँ भाग गयीं तब आप भी जनवासेको चले गये। ☞ इससे सिद्ध होता है कि अगवानी लोग बरातियोंको जनवासा देकर शिवजीको परछन करानेके लिये द्वारपर ले आये थे। इसीसे जब स्त्रियाँ भाग गयीं तब जनवासेमें इनका जाना लिखा गया। अथवा, इनको भी जनवासा देकर तब वहाँसे लाये हों। [जनवासेमें चले जानेका भाव यह भी कहा जाता है कि शिवजीने यही समझा कि इस देश और कुलमें परछनकी यही रीति है कि वरको देखकर परात पटककर स्त्रियाँ घरमें घुस जायँ। अतएव परछनकी रसम समाप्त समझकर जनवासेको चले गये। विशेष भाव आगे 'महेश' शब्दमें दिये गये हैं।]

नोट—यहाँ इस प्रसङ्गमें क्रमशः प्रसङ्गानुकूल शिवजीके तीन भिन्न-भिन्न नामों 'हर', 'रुद्र' और 'महेश' का प्रयोग हुआ है। प्रथम आरती वा परछनके साथ 'हर' पद दिया। जो आर्तिहरण हैं, उनकी आरती करने चलीं, यथा—'***आरति करिय आरतिहरकी।***' (विनय०) ये श्रीगिरिजाजीका पाणिग्रहण करके गिरिजाजीका तथा माता-पिताका क्लेश हरण करेंगे जिससे फिर देवताओंके भी सङ्कट निवारण होंगे। इस विचारसे आरती (परछन) के प्रसङ्गमें 'हर' (**क्लेशं हरतीति हरः**) नाम उपयुक्त है। विकट वेष और विशेष भयकी उत्पत्तिसे 'रुद्र' शब्दकी सार्थकता प्रकट की है। स्त्रियोंके भाग जानेपर जनवासेमें जाते समय 'महेश' नाम देनेमें भाव यह है कि आप 'महान् ईश' हैं, आपकी सब जीवोंपर दया है, यथा—'***पान कियो बिष भूषन भो करुनाबरुनालय साइँ हियो है।***' (क० ७। १५७) आप समझ गये कि हमारा विकट वेष देखकर स्त्रियाँ डर गयीं, वे हमारे ऐश्वर्यको, हमारे स्वरूपको नहीं जानतीं, अतएव जनवासेमें जाकर ठहर गये और कोई दूलह होता तो अपमान समझकर बारातसहित घर लौट जाता। आगे स्वरूपका बोध भी होनेका उपाय इसी बहाने रच दिया है।

प० प० प्र०—'***बिकट बेष रुद्रहि जब देखा।***......***गए महेस***......' इति। पहले शिव थे, यथा—'***शिवहि संभुगन करहिं सिंगारा।***' फिर 'महेश' बने, यथा—'***मन ही मन महेस मुसुकाहीं'।*** तत्पश्चात् 'हर' बने, यथा—'***परिछन चली हरहि हरषानी।***' पर अन्तमें प्रतीत हुए-'रुद्र'। महेश=महान् ईशः। उन्होंने अपनी ईशनशक्तिसे '***भृंगिहि प्रेरि सकल गन टेरे***' और महेशता सिद्ध की। कुछ क्रोध नहीं आया, इससे अपने मनपर ईशता दिखायी। स्त्रियाँ परछनके लिये चलीं तब उनको विश्वास हुआ कि अब पार्वतीजीका विवाह होगा, उनकी चिन्ताका हरण हुआ; अतः 'हर' नाम यथार्थ ठहरा। जब दूलहको प्रत्यक्ष देख लिया तब तो वे रुद्र (भयानक) ही ठहरे। वास्तवमें तो '**संसाररुजं द्रावयतीति रुद्रः**' (श्रुति)। संसाररूपी रोगके भगानेवाले होनेसे रुद्र नाम है। यहाँ तो उनको देखते ही मेना आदि सब स्त्रियाँ भागने लगीं। अज्ञानी विषयी जीव शिवजीसे दूर-दूर प्रपञ्च-मरुमरीचिकाके पीछे-पीछे भागते दौड़ते हैं—यह इन स्त्रियोंके निमित्तसे दिग्दर्शित किया है। '***शिवधाम कृपाला***' हैं; इतने अपमानपर भी क्रोधका लेश नहीं। शान्त गम्भीर इन्द्रियसंयमी महेश जनवासेको चले गये।

टिप्पणी—२ '***मैना हृदय भएउ दुखु भारी।***......' इति। (क) '***भारी***' कहनेका भाव कि दुःख तो

सभी स्त्रियोंको हुआ पर इनको 'भारी' दुःख हुआ। भारी अनर्थ देखकर भारी दुःख हुआ। अन्य स्त्रियोंके हृदयमें भयका होना कहा—*'अबलन्ह उर भय भएउ बिसेषी।'* और मेनाजीके हृदयमें भारी दुःखका भी होना कहा, क्योंकि माताका ममत्व कन्यापर बहुत होता है। विशेष वात्सल्य, विशेष ममत्व विशेष दुःखका कारण होता ही है। अथवा उमाजीका भारी क्लेश समझकर माताको भारी दुःख हुआ क्योंकि उमामें इनका भारी स्नेह है, उमा इनको प्राणोंसे अधिक प्रिय हैं, यथा—*'कंत उमा मम प्रान पियारी।'* (१।७१)।*'अधिक सनेह गोद बैठारी।'* कन्याके दुःखसे माता दुःखी हुई और माताके दुःखसे साथकी सब अबलाएँ दुःखी हुईं; यथा—*'भईं बिकल अबला सकल दुखित देखि गिरिनारि।'* (९६) (ख) ☞ मेनाजीको भय, त्रास, दुःख सभी भारी हुए; यथा—*'भय भएउ बिसेषा', 'भागि भवन पैठीं अति त्रासा।', 'मैना हृदय भएउ दुखु भारी'।* (ग) [*'लीन्ही बोलि'* इति। पार्वतीजीको बुलानेका कारण वात्सल्य और करुणा ही जान पड़ते हैं। यहाँका दृश्य मानवप्रकृतिका पूरा नमूना है। ठीक ऐसा ही मनुष्य स्वाभाविक करते हैं। यहाँ करुणरस परिपूर्ण है। टीकाकारोंने बुलानेके भाव ये कहे हैं—(१) इनके रूपको देख और गुणोंको स्मरणकर विलाप करेंगे जिससे भय और दुःख दोनों ही कम हो जायेंगे, यथा—*'केहेहू तें कछु दुख घटि होई॥'* (५।१५) (२) 'पार्वतीजी वरको देखकर कहीं डर न जायँ। (३) कहीं ऐसा न हो कि हिमाचल बाहर-ही-बाहर इनको ब्याह दें।] (घ) *'गिरीसकुमारी'* का भाव कि यह राजकुमारी है, इसका विवाह राजाके साथ होना चाहिये था न कि योगीके साथ। योगीके साथ ब्याह बहुत अयोग्य है—यही समझकर मेनाजीको बहुत दुःख हुआ। (पुनः भाव कि यह पर्वतराजकी कन्या है, पर्वत अविचल होते हैं, वैसे ही यह भी माताकी व्याकुलता देखकर किञ्चित् भी विचलित न होंगी, माताके विलापसे भी इनका धैर्य न जायगा, इनका धैर्य भी 'गिरीशवत्' है, ये माताको भी धीरज देंगी।)

प० प० प्र०—नारदजीसे शिवजीके वेषका स्वरूप प्रथम ही जान लिया था, श्रीभगवान्का स्मरण करनेपर उनका भय और सोच चला गया था और वे स्वयं पार्वतीजीको शंकरनिमित्त तप करनेका उपदेश देनेको गयीं। फिर वेदशिरा मुनिसे पार्वतीजीकी महिमा भी सुनी, इत्यादि सब होनेपर भी मेनाजी क्यों डरीं? ☞ यहाँ मानवी मनके स्वभावका एक सुन्दर चित्र चित्रित किया है और बताया है कि श्रव, विचार और प्रत्यक्ष वस्तु-दर्शनमें महदन्तर रहता है। प्रत्यक्ष दर्शन होनेपर मानवी मन सब पूर्व विचारों, सिद्धान्तों और रहस्य-ज्ञानको एक निमिषमें भूल जाता है। मानसशास्त्राभ्यासी लोगोंको श्रीमानसमें मानवी मनके स्वभावका अभ्यास करनेके लिये जितनी विविध सामग्री उपस्थित मिलती है इतनी किसी अन्य महाकाव्यमें दुर्लभ है। *'ममता तरुण तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुखकारी'* का महान् प्रभाव यहाँ दिखाया है तथा *'सभय सुभाउ नारि कर साँचा। मंगल महँ भय मन अति काँचा ॥'* (५।३७।२) इस वचनको यहाँ चरितार्थ किया है। अर्जुन और भारतीय युद्ध भी इस मानव प्रकृतिका उदाहरण है।

अधिक सनेह गोद बैठारी। स्याम सरोज नयन भरे* बारी॥७॥
जेहि बिधि तुम्हहि रूपु अस दीन्हा। तेहि जड़ बरु बाउर कस कीन्हा॥८॥

अर्थ—बहुत स्नेह (के कारण) से गोदमें बिठा लिया। उनके नीलकमलसमान नेत्रोंमें जल भर आया॥७॥ (वे बोलीं) जिस विधाताने तुमको ऐसा (सुन्दर) रूप दिया उस जड़ने दूलहको बावला क्यों वा कैसे बना दिया!॥८॥

टिप्पणी—१*'अधिक सनेह……'* इति। (क)*'अधिक सनेह'* कहकर जनाया कि पूर्व जितना स्नेह था उससे इस समय अधिक बढ़ गया है। पूर्व उमाको प्राणप्यारी कहा है, यथा—*'कंत उमा मम प्रान पिआरी'* (७१) अब प्राणोंसे अधिक प्रिय हो गयीं, (दुःख देखकर स्नेह अधिक हो ही जाता है), इसीसे आगे उनके स्नेहके कारण प्राण दे देनेपर उद्यत हैं। ☞ उमाके भविष्य क्लेशका चिन्तन, स्मरण

* भरि—ना० प्र०, गौड़जी।

और विचार कि मेरी कन्याको आगे बड़ा दुःख होगा, स्नेहकी अधिकताके कारण हैं। *'अधिक स्नेह'* का स्वरूप यहाँसे दिखाते हैं। अधिक स्नेहसे ही गोदमें बिठाया। (ख) *'स्याम सरोज नयन'* इति। शृङ्गारका समय है, इसीसे शृङ्गार करके आरती उतारने चली थीं। षोडश शृङ्गारमेंसे अंजन, काजल या सुरमा लगाना भी एक शृङ्गार है। सुरमा या काजलयुक्त होनेसे नेत्रोंको श्यामकमल-समान कहा। (पाँड़ेजी) (ग) *'नयन भरे बारी'*—विचारती हैं कि यह राजकुमारी है, इसका निर्वाह योगीके साथ कैसे होगा? यही सोचकर अधिक स्नेहके कारण गोदमें बिठा लिया है और यही समझकर आँसू भर आये।

टिप्पणी—२ *'जेहि बिधि तुम्हहि……'* इति। (क) वरका भयानक रूप देखकर अपनी कन्याके सुन्दर रूपका सोच करने लगीं। *'विधि'* को दोष लगाती हैं क्योंकि फलके दाता *'विधि'* ही हैं। (ख) ☞ फलदाता होनेसे विधिको ही सब लोग दोष लगाया करते हैं; यथा *'एक बिधातहि दूषन देहीं। सुधा देखाइ दीन्ह बिषु जेहीं॥'* (२। ४९) *'सहित बिसाद परसपर कहहीं। बिधि करतब उलटे सब अहहीं॥ निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलंकू॥ रूख कलपतरु सागरु खारा। तेहिं पठए बन राजकुमारा॥'* (२। ११९) *'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीचु जननी मिस पारा॥'* (२। २६१) *'बिधि बामकी करनी कठिन जेहिं मातु कीन्ही बावरी॥'* (२। २०१) *'दै दोष सकल सरोष बोलहिं बाम बिधि कीन्हो कहा॥'* (२। २७६) इत्यादि। (ग) *'तेहि जड़'* इति। *'जड़'* कहनेका भाव कि ऐसी रूपवती कन्याका ऐसा पति बनाना 'जड़ता' है। रूपवती दुलहिनके लिये रूपवान् दूलह चाहिये न कि विकट वेषधारी बावला। ऐसा बुरा वर रचना मूर्खताका काम है। यथायोग्य कार्य करनेसे ही *'बिधि'* को 'विधि' कहा जाता है, योग्य कार्य करनेसे ही वह चतुर कहा जाता है। यथा— *'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी॥'* (१। २२३) (यह विधिकी चतुरता है); *'कैकइ सुअन जोगु जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई॥'* (२। १८१) (यहाँ भी यथायोग्य करनेसे विधिको चतुर कहा) पार्वतीजीके सम्बन्धमें अयोग्य करने (अयोग्य वर रचने) से यहाँ 'जड़' कहा। ऐसे ही अयोग्य कार्य करनेसे 'विधि' को निठुर, निरंकुश, नीच, वाम आदि विशेषण (उपर्युक्त उद्धरणोंमें) लोगोंने दिये हैं। [(घ) पंजाबीजी लिखते हैं कि पार्वतीजीको रूप और तदनुकूल बुद्धि, धैर्य आदि गुण जैसे होने चाहिये वैसे ही विधिवत् दिया, इसीसे *'तुम्हहि रूप अस दीन्हा'* के साथ 'विधि' शब्द दिया और वरको भयंकर जटिल आदि अयोग्य रूप-गुणवाला बनानेसे उसी विधिको *'जड़'* कहा। और किसीका मत यह है कि इस समय मेनाजी व्याकुल हो गयी हैं, इसीसे विह्वलताके कारण उन्होंने 'जड़' कह दिया। यथा *'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इन्ह को बिलगु न मानिये बोलहिं न बिचारी॥ लोकरीति देखी सुनी ब्याकुल नरनारी। अति बरषे अनबरषेउ देहिं दैवहिं गारी॥'* (विनय० ३४) और कोई-कोई 'जड़' को वरका विशेषण मानकर अर्थ करते हैं कि 'उसने दूलहको जड़ और बावला कैसे बनाया।' (ङ) इस अर्धालीमें दो अनमिल बातोंका वर्णन है कहाँ तो यह रूप और कहाँ बावला वर? अतः यहाँ 'प्रथम विषम अलङ्कार' है।] (च) ☞ यहाँ मेनाजीके तन, मन और वचन तीनोंकी दशा दिखायी। स्नेहके कारण हृदयमें दुःख हुआ, यह मनकी व्यवस्था कही। उमाको स्नेहसे गोदमें बिठा लिया यह तनका हाल कहा और आगे उमाको स्नेहके कारण दुःखकी बातें कहती हैं कि *'जेहि बिधि……'* इत्यादि, यह वचनकी दशा कही। भाव कि मेनाजी तन-मन-वचनसे उमाजीके स्नेहमें डूब गयी हैं।

वि० त्रि०—जो प्रश्न ब्रह्मदेवसे करना चाहिये था, वह अपनी कन्यासे करने लगीं। विधिको उपालम्भ देती हैं अथवा इस व्याजसे कन्याकी अस्वीकृति चाह रही हैं।

छंद—कस कीन्ह बरु बौराह बिधि जेहि तुम्हहि सुन्दरता दई।
जो फलु चहिअ सुरतरुहि सो बरबस बबूरहि लागई॥

तुम्ह सहित गिरितें गिरौं पावक जरौं जलनिधि महुँ परौं।
घरु जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिबाहु न हों करौं॥

शब्दार्थ—**बरबस**=जबरदस्ती, बरजोरी, जबरई, बलात्। जाउ (जाय)=बिगड़ जाय, उजड़ जाय। *'घर जाना'* मुहावरा है अर्थात् घर बिगड़ जाय, कुलका नाश हो जाय। हों=मैं।

अर्थ—जिस विधाताने तुमको सौन्दर्य (अर्थात् सुन्दर रूप) दिया, उसने दूलहको कैसे बावला बनाया? जो फल कल्पवृक्षमें लगना चाहिये वह जबरन बबूलमें लग रहा है। तुम्हारे सहित मैं पर्वतपरसे (भले ही) गिर पड़ूँ (गिरकर प्राण दे दूँ), आगमें जल मरूँ, समुद्रमें डूब मरूँ, घर (भले ही) उजड़ जाय, वंशका नाश हो जाय और (चाहे) जगत्‌भरमें अपयश (क्यों न) हो पर मैं जीते-जी विवाह नहीं (ही) करूँगी।

टिप्पणी—१ *'कस कीन्ह……'* इति। (क) यह बात बारम्बार कह रही हैं, इसीसे ग्रन्थकारने भी इसे दो बार यहाँ लिखा; यथा *'जेहि बिधि तुम्हहि रूप अस दीन्हा। तेहि जड़ बरु बाउर कस कीन्हा॥'* पूर्व कह चुकी हैं, वही बात फिर कहती हैं। (वस्तुत: ऐसा कुछ नियम भी है कि किसी-किसी छन्दके आरम्भमें कुछ शब्द दोहराये जाते हैं, मानसमें भी कई स्थानोंपर ऐसा हुआ है।) (ख) *'जो फलु चहिअ……'* इति। यहाँ उमाजी फल हैं, सुन्दर रूपवाला पति सुरतरु है, शिवजी बबूलका वृक्ष हैं, शिवजीकी प्राप्ति होनेको है यह बबूलमें उस फलका लगना है। *'चहिअ सुरतरुहि'* का भाव कि कल्पवृक्ष देववृक्ष है, यह देवताओंका भाग्य है। आशय यह कि उमाजीका ब्याह तो किसी परम सुन्दर देवताके साथ होना चाहिये था। बबूल प्रेतवृक्ष है। प्रेतवृक्ष बबूलमें वह सुन्दर फल लगनेको है अर्थात् प्रेताधिपतिके साथ विवाह हो रहा है। कल्पवृक्षके फलके समान सुन्दर फल नहीं और बबूलसमान निकाम (निकम्मा) नहीं कि पास जाय भी तो काँटे ही चुभेंगे। बबूलमें काँटे-ही-काँटे, वैसे ही वरमें सर्प, विभूति, मुण्डमाल, जटा, बाघाम्बर आदि काँटे-ही-काँटे हैं। [बैजनाथजी आदिका मत है कि यहाँ परम सुन्दर भगवान् विष्णु 'सुरतरु' हैं। पार्वतीजी और उनका सौन्दर्य (परम सुन्दरी पार्वतीजी) फल हैं। शिवजी काँटेदार बबूलका वृक्ष हैं। मेनाजी सोचती हैं कि पार्वतीजीका विवाह होना चाहिये था भगवान् विष्णुसे, सो न होकर कुरूप, भयंकर वेषवाले शिवजीसे होनेको है।] (ग) *'बरबस लागई'* का भाव कि हमारा मन तो कदापि नहीं है कि शिवजीके साथ ब्याह हो। मैं नहीं करना चाहती। ['बरबस' कहा क्योंकि शिवजी ही पति हों इसीलिये तप कराया और किया गया। शिवप्राप्तिका वर भी मिल गया। यथा—*'भयउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराज कुमारि। परिहरु दुसह कलेस सब अब मिलिहहिं त्रिपुरारि।'* (७४) ब्रह्मवाणी असत्य हो नहीं सकती। अतएव न चाहनेपर भी बलात् होनेको है। (घ) मेनाजीकी इच्छाके विरुद्ध वर मिलना 'विषादन अलङ्कार' है; यथा—*'जहँ चित चाही वस्तु ते पावै वस्तु बिरुद्ध। बुद्धिवंत नर बरनहीं तहाँ विषादन शुद्ध॥'* (अ० मं०) श्रीमेनाजी अपने उपर्युक्त अभिप्रायको सीधे-सीधे न कहकर उसका प्रतिबिम्बमात्र *'सुरतरु……लागई'* कहकर जनाती हैं। ऐसा वर्णन 'ललित अलङ्कार' है। यथा—*'ललित अलंकृत जानिये कह्यो चाहिए जौन। ताहीके प्रतिबिंबही बरनन कीजै तौन।'* (अ० मं०)]

टिप्पणी—२ *'तुम्ह सहित गिरि तें गिरौं……'* इति। (क) भाव कि तुम जीती रहोगी तो वे बलात् ब्याह कर लेंगे, इसलिये 'तुम्हारे सहित' मैं पर्वतसे गिरूँगी। मेनाजी और पार्वतीजी 'गिरि' पर हैं। हिमाचल 'गिरि' है। इसीसे प्रथम गिरिपरसे गिरनेकी बात कही। (ख) ☞ यहाँ तीन प्रकारसे मरनेकी तैयारी दिखायी—*'गिरि ते गिरौं', 'पावक जरौं', 'जलनिधि महँ परौं'।* पर्वत, पावक और जल इन तीनके कहनेका भाव यह है कि मरनेपर शरीरको तीन तत्त्वोंमेंसे इन्हीं किसी एकको प्राप्ति होती है—किसीको पृथ्वीतत्त्व, किसीको अग्नितत्त्व और किसीको जलतत्त्वकी। [पुन: भाव कि मरनेपर शरीरकी तीन ही प्रकारकी गति होती है; यथा—*'कृमि भस्म बिट परिनाम तनु तेहि लागि जग बैरी भयो।'* (विनय० १३६)

उन तीन व्यवस्थाओंके लिये तीन प्रकारसे कहा। पर्वतसे गिरनेपर पृथ्वीतत्त्वमें मिलनेसे 'कृमि', अग्निमें जलनेसे भस्म और समुद्रमें डूबनेसे जलजन्तुओंके खा लेनेसे 'विष्ठा' होगी।] (ग) गिरि, पावक और जलनिधि तीनोंके क्रमका भाव कि प्रथम पर्वतसे गिरना सुगम वा सुलभ है, अत: उत्तम है। इससे कठिन है 'पावकमें जलना' क्योंकि इसमें चिता बनानेकी कठिनता है, अतएव यह मध्यम है। समुद्रमें जाकर डूबना इन दोनोंसे कठिन है क्योंकि समुद्र दूर है, उसकी प्राप्ति शीघ्र नहीं हो सकती। अतएव निकृष्ट उपाय होनेसे उसे अन्तमें कहा। [पुन: दूसरा भाव यह कहा जाता है कि प्रथम गिरिपरसे गिरनेको कहा, फिर सोचीं कि हिमाचल गिरिराज है, इस कारण कदाचित् गिरिपरसे गिरनेपर भी मृत्यु न हो तब अग्निमें जल मरूँगी और यदि अग्निदेव भी न जलावें (क्योंकि सब देवताओंका स्वार्थ इसी विवाहमें है) तो समुद्रमें डूब जाऊँगी।]

प० प० प्र०—मरनेके ये तीन उपाय मेनाके मनोभावानुकूल हैं। वे सोचती हैं कि भयानक रुद्रका स्पर्श किसी प्रकार भी मेरी प्रिय पुत्रीके देहको न होने पावे। गिरिसे गिरनेपर व्याघ्रादि पशु उसे तुरन्त खा लेंगे, मृत देहोंका पता भी न लगेगा, यह उत्तम उपाय है और सहज-साध्य है। अग्निमें जलनेसे देह भस्म हो जायगी, पर वह योगी चिताकी भस्मको विभूति समझता है, भस्मको भी रुद्रवेषका डर लगेगा, अत: यह उपाय उतना उत्तम नहीं। जलमें डूबकर मरनेसे जलचर देहको खा लेंगे, मृतदेह उनके हाथ न लगेगी, पर समुद्र दूर और दुर्गम है।—विष, शस्त्र या उद्बन्धनसे मरना इससे सुलभ है पर विषसे मरनेपर वे उसे जिला लेंगे। शस्त्रसे मस्तक काटकर मरनेपर वे किसी पशुका मस्तक उसपर रख देंगे दक्षकी-सी दशा होगी। इत्यादि। देवोंके पास अमृत रहता ही है और उन्होंने स्वार्थवश यह सब कराया है। अत: जिस साधनसे मृतदेह उनको न मिल सके वे ही सोचे।

लमगोड़ाजी—'यहाँ अनमिल बेजोड़पनसे ही करुणरस उत्पन्न हो गया है। इसीसे मेरी धारणा है कि वह अनमिल बेजोड़पन हास्यरसमें गिना जाना चाहिये जिससे हँसी आवे।—हाँ! यहाँ कविका कमाल है कि एक चित्रसे एक ओर हास्य, दूसरी ओर भयानक एवं करुणरस उत्पन्न किये हैं। पर कवि अन्तमें जोर करुणरसपर ही देता है—***'जो फलु चहिअ सुरतरुहि सो बरबस बबूरहि लागई।'*** इसीलिये ***'छछूँदर लगावै चमेलीका तेल'*** का सकरुण रूपान्तर प्रयुक्त हुआ है।'

टिप्पणी—३ ***'घर जाउ……'*** इति। (क) पूर्व कह आये हैं कि बारात यमकी सेना है (यह लड़कोंने घर-घर कहा है)। विवाह न करनेसे यमकी सेना घर अवश्य लूट लेगी और अपयश होगा, यही सोचकर कहती हैं कि ***'घर जाउ……।'*** अर्थात् घरका लुट जाना और अपयश होना यह सब मुझे स्वीकार है, मंजूर है, पर विवाह करना अंगीकार नहीं है। 'घर जाना' शीघ्र होगा और अपयश पीछे। अर्थात् घर लुटनेमें देर नहीं होनेकी और अपयश तो उसके पश्चात् कहीं होगा जब खबर फैलेगी; इसीसे ***'घर जाउ'*** प्रथम कहा। [(ख) बैजनाथजी आदिने 'बारात घर लौट जाय', 'हमसे घर छुट जाय', 'शिवगण हमारा घर लूट लें—इस प्रकार अर्थ किये हैं। पर 'घर जाना' मुहावरा है, अत: ये अर्थ ठीक नहीं हैं।]

दोहा—भईं बिकल अबला सकल दुखित देखि गिरिनारि।
करि बिलापु रोदति बदति सुता सनेहु सँभारि॥ ९६॥

शब्दार्थ—**बिलापु**=बिलख-बिलखकर या विकल होकर रोनेकी क्रिया=शोकयुक्त वचन निकालना। **रोदति**=रुदन करती हैं; रोती हैं। **बदति**=कहती हैं।

अर्थ—हिमाचलराजकी स्त्रीको दु:खित देखकर सब स्त्रियाँ व्याकुल हो गयीं। (मेनाजी) बेटीके स्नेहको याद कर-करके बिलख-बिलखकर रोती-पीटती और कहती थीं॥ ९६॥

वीरकविजी—१ 'पर्वतराजकी भार्याको विकल हुई देखकर अन्य स्त्रियोंका व्याकुल होना, रोना 'मित्रपक्षीय प्रत्यनीक अलङ्कार' है।

२—शंका—मेनाजी पहले ही देवर्षि नारद और हिमवान्‌द्वारा शिवजीके रूपको सुन चुकी थीं, फिर इतना डर उन्हें क्यों हुआ जब कि उन्होंने उक्त वरकी प्राप्तिके लिये कन्याको तपस्या करने भेजा? समाधान—मानसप्रकरणमें कह आये हैं कि कविता-नदीके लोकमत और वेदमत दो किनारे हैं। यहाँ नदीकी धारा लोकमतके किनारेसे लगकर चल रही है। स्त्रियोंका स्वभाव भीरु और चंचल होता है। भीषण वेष देख पहलेकी कही-सुनी बातें मेना भूल गयीं। वे पुत्रीके स्नेहमें विह्वल हो उठीं। फिर इस घटना-सम्बन्धसे श्रीपार्वतीजीकी अत्यन्त महिमा सब लोगोंपर व्यक्त करना कविको अभीष्ट है।

३ 'हिंदी नवरत्नके लेखक इस बातको लेकर गोसाईंजीपर बेतरह टूट पड़े हैं। उन्होंने यहाँतक कविपर आक्षेप किया है कि महादेवजीका विवाह इस कारण बिगाड़ा गया है जिसमें श्रीरामचन्द्रजीके विवाहकी शोभा बढ़ जाय। शिव! शिव! इस दोषारोपणसे समालोचकोंने सत्यका गला घोंट डाला है।'

टिप्पणी—१ ***'भई बिकल……'*** इति। (क) मेनाजीके वचन सुनकर कि वे पार्वतीसहित प्राणान्त करनेपर तुली हुई हैं तथा उनको अत्यन्त दुःखित देख, देखनेवाली सब स्त्रियाँ विकल हो गयीं। (ख) पहले मेनाजी नेत्रोंमें अश्रु भरे हुए दुःखकी बातें कहती रहीं, अब उच्च स्वरसे रोने लगीं। अतः ***'करि बिलापु रोदति'*** कहा। (ग) ***'करि बिलाप……सनेह सँभारि'*** इति। भाव कि सुताका स्नेह सँभालकर, हृदयमें धारण करके दुःख मानकर और उसके गुणोंको विचारकर विलाप करके रोती हैं और सुताके रूप और गुणोंको बखान करती हैं, अपने दुःखकी बातें कहती हैं।—[***'सुता सनेह'*** के तीन अर्थ हो सकते हैं—सुतापर अपना स्नेह, सुताका अपनेपर स्नेह और सुताकी कोमलता। स्नेह=कोमलता। तीनों अर्थ यहाँ घटित होते हैं। मुझे यह प्राणोंसे अधिक प्यारी है तब ऐसे कुयोग्य वरके साथ मैं ब्याह कैसे करने दूँ?-इसका मुझमें इतना स्नेह है तब इसकी रक्षा मैं न करूँ तो कौन करेगा? वि० त्रि० ***'सुता सनेह सँभारि'*** का भावार्थ यह कहते हैं—'बेटीके स्नेहको सँभाले हुए हैं, कोई त्रुटि नहीं होने पावे। यदि ऐसे वरसे ब्याह हो गया तो माँके प्रेममें (वात्सल्यमें) त्रुटि समझी जायगी।'

नारद कर मैं काह* बेगारा†। भवनु मोर जिन्ह‡ बसत उजारा॥ १॥
अस उपदेसु उमहि जिन्ह दीन्हा। बौरे बरहि लागि तपु कीन्हा॥ २॥

अर्थ—मैंने नारदका क्या बिगाड़ा जिन्होंने मेरा बसता हुआ घर उजाड़ डाला?॥ १॥ और जिन्होंने उमाको ऐसा उपदेश दिया कि उन्होंने बावले वरके लिये तप किया॥ २॥

टिप्पणी—१ ***'नारद कर मैं काह बेगारा……'*** इति। (क) विधिकी निन्दा करके अब नारदकी निन्दा करती हैं, क्योंकि विधि तो कर्मका फल देते हैं; उनका दोष ही क्या? जिसके लिये तप किया गया, विधिने उसकी प्राप्ति कर दी। कर्म (तप) करानेके हेतु नारदजी ही हैं, इन्हींने तप करवाया जैसा वे स्वयं आगे कहती हैं। [(ख) ***'काह बेगारा'*** का भाव कि जो कोई किसीको हानि पहुँचावे तो बदलेमें यदि उसको हानि पहुँचायी जावे तो अपराध नहीं माना जाता, कोई दोष नहीं देता; पर मैंने तो नारदजीका कुछ बिगाड़ा नहीं, तब उन्होंने हमसे काहेका बदला लिया कि हमारा अनर्थ किया?] (ग) ***'भवन मोर……'*** इति। इस कथनसे जान पड़ता है कि मेनाजीको यह निश्चय विश्वास हो गया है कि अब घर न बचेगा। 'भवनका उजाड़ना' कहनेमें भाव यह है कि सप्तर्षियोंका वाक्य सुन चुकी हैं कि नारदके सिखावनसे घर नष्ट होता है; यथा—***'नारद सिख जे सुनहिं नर नारी। अवसि होहिं तजि भवनु भिखारी॥'*** (१। ७२)।—(सप्तर्षियोंके वाक्य मेनाजीने सुने हैं इसका प्रमाण नहीं मिलता, यह अनुमान ही होगा। पर यह कह सकते हैं कि मेनाजी नारदजीका स्वभाव जानती हैं और जो कह रही हैं वह भी जानती हैं। यह बात पार्वतीमंगलसे भी सिद्ध होती है।)—और ब्याह न होनेसे बाराती घर अवश्य लूट लेंगे यह मेनाजीको निश्चय है जैसा कि ***'घर जाउ……'*** उपर्युक्त वचनोंसे स्पष्ट है।—यही विचारकर कहती हैं कि नारदने

* कहा—छ०। काह—१६६१, १७२१, १७६२। † बिगारा—प्रायः औरोंमें। बेगारा—१६६१। ‡ जेहि—१७०४।

मेरा घर उजाड़ा। तप कराकर बावले वरको ला मिलाया जिससे घर बचना कठिन है। (घ) *'बसत'* का भाव कि घर सम्पूर्ण पदार्थोंसे सम्पन्न है, यदि घरमें कुछ न होता तो इतना दुःख न होता। इन्होंने तो बसा-बसाया घर उजाड़ा।

टिप्पणी—२ *'अस उपदेसु......'* इति। (क) यथा—*'जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥ जद्यपि बर अनेक जग माहीं। एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं॥'* (१। ७०)।—[☞ जो प्रथम अर्धालीमें कहा था कि *'नारद कर मैं काह बेगारा'* उसीको अगली तीन अर्धालियोंमें स्पष्ट करती हैं कि मैंने कुछ नहीं बिगाड़ा, उन्होंने व्यर्थ ही, अकारण ही हमारा घर उजाड़ा, हमारी लड़कीसे वृथा ही बावले वरके लिये तप करवाया, हमारी लड़कीका जन्म बिगाड़ा। (ख) *'बौरे बरहि......'* का भाव कि ऐसा वर मुफ्त भी मिलता तो भी मैं उसे अपनी कन्या न ब्याहती, सो उसकें लिये उन्होंने उसे तपका उपदेश दिया, जिसमें उनका चाहा—चेता टल न सके। ☞ यहाँ *'बरबस बबूरहि लागई'* का भाव स्पष्ट कर दिया है।] (ग) ब्रह्माने बावला वर बनाया, अत: प्रथम ब्रह्माको बुरा-भला कहा था, यथा—*'कस कीन्ह बर बौराह......।'* और नारदजीने तप करवाया, अत: इनकी भी निन्दा की।

साचेहु उन्ह कें मोह न माया। उदासीन धनु धामु न जाया॥ ३॥
पर घर घालक लाज न भीरा। बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा॥ ४॥

शब्दार्थ—**मोह**=प्रीति। **माया**=कृपा, दया। यथा—**'माया दम्भे कृपायां च।'** **जाया**=विवाहिता स्त्री; विशेषत: वह जो बच्चा जन चुकी हो। यथा—**'तज्जाया जाया भवति यदस्या जायते पुनः इति श्रुतिः।'** जिसमें पुरुष फिर पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है वही स्त्री 'जाया' कहलाती है। इसका एक अर्थ 'संतान' भी होता है। **घालक**=नाशक, नाश करने वा बिगाड़नेवाले। **भीरा**=भय, डर। **बाँझ**=वह स्त्री जिसके बच्चा न होता हो, वन्ध्या। **प्रसव**=बच्चा जननेवाली; प्रसूति।=बच्चा जननेकी क्रिया। **पीरा** (सं० पीडा)=पीड़ा, दर्द, कष्ट।

अर्थ—सत्य ही उनके मोह है न माया (वा, मायामोह नहीं है)। न शत्रु है न मित्र, न धन है न धाम और न स्त्री-पुत्र ही॥ ३॥ वे पराया घर उजाड़नेवाले हैं, उनको न लज्जा है न भय। भला बाँझ प्रसवकी पीड़ाको क्या जाने?॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'साचेहु उन्ह कें मोह न......'* इति। (क) *'साचेहु'* कहकर जनाया कि जब सप्तर्षियोंकी कहनी सुनी थी कि नारदके मोह-माया नहीं है तब उनकी बात सत्य न मानी थी, इसीसे अब कहती हैं कि *'साचेहु'* अर्थात् यह बात सत्य साबित हुई।—(पर इसका क्या प्रमाण है कि प्रेमपरीक्षाकी गुप्त बातें सप्तर्षियों या गिरिजाजीने मातासे कहीं? मेरी समझमें नारदमुनिका यह स्वभाव सब जानते ही हैं, वैसे ही मेनाजी भी सुनती या जानती रही हैं पर अब स्वयं उसका अनुभव हुआ, अपने ही ऊपर बीत रही है; अत: वे कहती हैं कि *'साचेहु'* अर्थात् अभीतक तो सुना ही था अब जान गयी कि जो सब कहते हैं वह सत्य ही है।) (ख) *'मोह न माया'* इति। भाव कि उन्होंने इतनी छोटी और सुकुमार कन्यासे तप करवाया और वह भी बावले वरके लिये; यदि उनके हृदयमें प्रेमका अंकुर होता तो ऐसा कदापि न करते। माया, कृपा, दया भी नहीं है, यदि होती तो जब हमने उमाको ले जाकर चरणोंपर डाल दिया था; यथा—*'सुता बोलि मेली मुनि चरना।'* तब तो दया लग आनी थी। आगे मोहमाया न होनेका कारण स्वयं कहती हैं। (ग) *'उदासीन धनु धामु न जाया'* इति। *'उदासीन'* में भाव यह कि भलेमानुस नहीं हैं, उनमें भलमनसाहत है ही नहीं, नंगोंके समान हैं; यदि भलेमानुस होते तो अच्छेके यहाँ ब्याह कराते। *'धनुधाम......'* का भाव कि धन-धाम, स्त्रीमें मोह-माया होती ही है, पर इनके ये तीनों नहीं हैं, तब माया-मोह कहाँसे हो? अपने धन, धाम, स्त्री नहीं हैं, इसीसे *'पर घर घालक'* हैं, पराया घर उजाड़ा करते हैं, सबको अपना-सा बनाना चाहते हैं; यथा—*'आपु सरिस सबही चह कीन्हा।'* (१। ७९) ☞*'साचेहु उन्ह के......जाया'* यह बावले वरके लिये तप करानेका कारण बताया और आगे *'पर घर घालक......'* में भवन उजाड़नेका हेतु कहती हैं।

टिप्पणी—२ *'पर घर घालक.......'* इति। (क) *'दच्छसुतन्ह उपदेसेन्हि जाई। तिन्ह फिरि भवन न देखा आई॥ चित्रकेतु कर घर उन्ह घाला। कनककसिपु कर पुनि अस हाला॥'* (१। ७९) तथा *'भवन मोर जिन्ह बसत उजारा।'* के सम्बन्धसे *'पर घर घालक'* कहा। पूर्व औरोंसे तथा पुराणों-इतिहासोंमें सुना था और अब स्वयं भी अनुभव किया। (ख) *'लाज न भीरा'* इति। अर्थात् लज्जा नहीं है कि कोई कुछ एवं क्या कहेगा? डर नहीं है कि लोक-परलोक बिगड़ेगा। विरक्त हैं, उदासीन हैं, धन-धाम, स्त्री-पुत्र कुछ है ही नहीं, अतः नंगापन करनेमें डर नहीं है कि कोई हमारा बिगाड़ना चाहे तो बिगाड़ेगा क्या? लज्जा नहीं है, कहनेमें भाव यह भी है कि ब्रह्माजीने एवं दक्षने शाप भी दिया तब भी परघरघालनेका स्वभाव न छोड़ा, ऐसे निर्लज्ज हैं। (ग) *'बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा'* इति। अर्थात् घर होता तो घर बिगड़नेकी पीर भी जानते। [पुनः भाव कि स्त्री होती और उससे कोई कन्या होती तब उसको यदि ऐसा वर मिलता तो भले ही जान पड़ता कि माता-पिताको कैसा दुःख होता है, तभी दूसरेके दुःखको समझते, फिर ऐसा उपदेश कभी न देते। इस चरणमें काकोक्तिद्वारा कण्ठध्वनिसे विपरीत अर्थ भासित होनेसे यहाँ 'वक्रोक्ति अलङ्कार' है अर्थात् वन्ध्या स्त्री प्रसव-वेदनाको नहीं जान सकती, उसका अनुभव हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसके संतान कभी होती नहीं, जिसपर पड़े वही जान सकता है।]

नोट—पार्वतीमङ्गलमें भी मेनाजीके ऐसे ही वचन हैं। वहाँ सप्तर्षियोंको भी लथाड़ा है। यथा—*'नारद के उपदेस कवन घर गे नहिं॥'* (६६) *घरघालक चालक कलह प्रिय कहियत परम परमारथी। तैसी बरेखी कीन्हि पुनि मुनि सात स्वारथ सारथी॥ उर लाइ उमहि अनेक बिधि जलपति जननि दुख मानई॥'* (६७)

जननिहि बिकल बिलोकि भवानी। बोली जुत बिबेक मृदु बानी॥५॥
अस बिचारि सोचहि मति माता। सो न* टरै जो रचै बिधाता॥६॥

शब्दार्थ—**मति**=मत, नहीं, न। **रचना**=विधान करना, निश्चित करना, लिखना।

अर्थ—माताको व्याकुल देखकर भवानी (श्रीपार्वतीजी) विवेकयुक्त कोमल वाणी बोलीं॥५॥ हे माता! जो विधाता निश्चित कर देता है वह टलता नहीं—ऐसा विचार कर सोच न कीजिये॥६॥

टिप्पणी—१ *'जननिहि बिकल बिलोकि.......'* इति। (क) मेनाजीको विकल देखकर सब स्त्रियाँ विकल हो गयी थीं। *'जननिहि'* कहकर जनाया कि औरोंको व्याकुल देखकर नहीं वरं च 'जननी' को व्याकुल देखकर बोलीं। (कारण कि और सब तो मेनाजीकी व्याकुलतासे व्याकुल थीं। जब उनकी व्याकुलता जाती रहेगी तब और सब तो स्वयं ही शान्त हो जायँगी।) (ख) *'भवानी'* नाम देनेके भाव ये हैं—(१) यद्यपि ये कन्या हैं और माता आदि सभी व्याकुल हैं तथापि ये किञ्चित् व्याकुल नहीं हैं। सबकी शिवजीमें अप्रीति है, पर इनका प्रेम जैसा-का-तैसा दृढ़ बना हुआ है। ये जानती हैं कि हम शिवपत्नी थीं और अब भी वही हमारे पति होंगे; इसलिये कविने *'भवानी'* अर्थात् भवपत्नी कहा। भला बच्चा माँको क्या ज्ञानोपदेश करेगा? और यहाँ ये ज्ञानोपदेशके वचन कह रही हैं, अतः कवि प्रथम ही समाधानके लिये *'भवानी बोली'* कहकर तब उनके वचन कहते हैं। अर्थात् ये तो भवपत्नी हैं, लीलामात्रके लिये ये मेनाजीकी पुत्री हुई हैं, नहीं तो ये तो *'सदा संभु अरधंग निवासिनी'* हैं। (ग) *'जुत बिबेक'* इति। वाणीको यह विशेषण देकर जनाया कि और सब स्त्रियाँ अज्ञानी हैं, इसीसे वे सब मेनाजीको विकल देख स्वयं विकल हो गयीं; यथा—*'भईं बिकल अबला सकल दुखित देखि गिरिनारि।'* किसीको ज्ञान नहीं है कि मेनाजीको समझाकर उनका सोच दूर करतीं। भवानी व्याकुल नहीं हुईं क्योंकि इनको विवेक है। पुनः, भाव कि 'विवेकमय' वचनोंसे शोक और व्याकुलता दोनों ही दूर होते हैं; यथा—*'सोक निवारेउ सबहि कर निज बिज्ञान प्रकास।'* (२। १५६) *'कहिं प्रिय बचन बिबेकमय कीन्ह मातु परितोषु।'* (२। ६०) अतः 'विवेकयुत' वचन बोलीं। [(घ) भवानीके बोलनेका कारण तो स्पष्ट ही है कि सभी स्त्रियाँ व्याकुल हैं, कोई भी

* मिटै—१७०४।

सावधान नहीं हैं जो माताको समझातीं। दूसरा कारण यह कहा जाता है कि जबतक माता ब्रह्माको दोष देती रहीं तबतक आप न बोलीं, परंतु जब नारदजीको बुरा-भला कहने लगीं तब बोलना आवश्यक हो गया, क्योंकि गुरुकी निन्दा सुनना पाप है। यदि आप ही सुनती रहतीं तो जगत्में फिर गुरुमर्यादा कैसे रहती? श्रीसीतास्वयंवरमें भी माता सुनयनाजी बहुत ही विह्वल हो गयी थीं, परंतु वहाँ उनकी एक सखी बड़ी सयानी थी, उसने उनको समझा लिया था।]

टिप्पणी—२ '*अस बिचारि सोचहि मति*······' इति। (क) '*बिचार*' का भाव कि विचार करनेपर सोच जाता रहता है, अतएव मेरे वचनोंपर विचार करो। (ख) '*सो न टरै*······' आगेकी चौपाईमें देखिये। यहाँ लिखा है—'*जो रचै बिधाता*' और आगे कहते हैं '*करम लिखा जो।*' इस तरह 'रचने' का अर्थ 'लिखना' स्पष्ट कर दिया।

करम लिखा जौ बाउर नाहू। तौ कत दोसु लगाइअ काहू॥ ७॥
तुम्ह सन मिटहि कि बिधि* के अंका। मातु ब्यर्थ जनि लेहु कलंका॥ ८॥

शब्दार्थ—**कत**=क्यों; किसलिये। **सन**=से। **अंक**=रेखा, लेख, अक्षर। **कलंक**=अपयश, धब्बा, बदनामी, दोष। **नाहू** (सं० नाथ)=स्वामी, पति; यथा—'*नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी।*' (२।१४०)

अर्थ—जो हमारे कर्म (भाग्य) में बावला ही पति लिखा है तो किसलिये किसीको दोष लगाया जाय (एवं लगाती हो)॥ ७॥ विधाताके लिखे हुए अङ्क क्या तुमसे मिट सकते हैं? (अर्थात् कदापि नहीं मिट सकते।) हे माता! व्यर्थ ही अपने ऊपर कलङ्क मत लो॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) '**करम**'=लिलार, ललाट, (भाग्य); यथा—'*दुख सुख जो लिखा लिलार हमरे।*······' मेनाजीने नारदजीको दोष लगाया कि '*अस उपदेसु उमहि जिन्ह दीन्हा।*······' उसीपर कहती हैं कि '*करम लिखा*······*तौ कत दोसु लगाइअ काहू।*' तात्पर्य कि इसमें हमारे कर्मका दोष है, नारदजीका नहीं। यथा—'*कौसल्या कह दोसु न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू॥*' (२। २८२) पुन: भाव कि तुम ही कहती हो कि '*जेहि बिधि तुम्हहि रूपु अस दीन्हा। तेहि जड़ बरु बाउर कस कीन्हा॥*' (अर्थात् यह सिद्धान्त तुम जानती हो और यह भी जानती हो कि विधिने ऐसा वर लिखा है तब व्यर्थ किसीको दोष क्यों लगाती हो?) [(ख) '*तुम्ह सन मिटहि*······*कि*' इति। '*सो न टरै जो रचै बिधाता*', '*करम लिखा जौ बाउर नाहू*' और '*तुम्ह सन मिटहि कि बिधि के अंका*' कहकर माताको नारदजीके पूर्व वचनोंका स्मरण कराती हैं।—'*कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥*' (६८) '*जस बरु मैं बरनेउँ तुम्ह पाहीं। मिलिहि उमहि तस संसय नाहीं॥*' '*जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष। अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख॥*' (६७) अर्थात् उन्होंने विधाताका लिखा हमारे भाग्यमें जो है वह बता दिया था। तब नारदमुनिका इसमें दोष क्या? तुम उनके वचन भूल गयी हो, सो मैं याद दिलाती हूँ। वे तो प्रथम ही कह चुके हैं कि '*हस्त असि रेख*' अर्थात् 'विधिके अङ्क' ऐसे ही पड़े हैं।—यह नारद-सिद्धान्त है कि 'विधिके अङ्क नहीं मिटते' अत: '*करम लिखा जो बाउर नाहू*' अर्थात् विधाताने हमारे भाग्यमें ऐसा ही पति लिखा है यह कहकर अब कहती हैं कि *['तुम्ह सन मिटहि कि?'।]* अर्थात् तुम्हारे मिटाये विधिके अङ्क नहीं मिटेंगे, तुम जो विधाताके अङ्क मेटनेको कह रही हो, यह हो नहीं सकता। '*जीवत बिबाहु न हौं करौं*' यही विधाताके लिखे अङ्कोंका मिटाना है; सो यह हो नहीं सकता। मेनाजीने जो कहा था कि '*कस कीन्ह बरु बौराह*······*बिबाह न हौं करौं*' उसीपर कहा कि '*तुम्ह सन मिटहि कि बिधि के अंका*', और जो माताने कहा था कि '*घर जाउ अपजस होउ*' उसपर कहती हैं कि '*ब्यर्थ जनि लेहु कलंका।*'

---

* कर—१७०४। कै—को० रा०। के—१६६१, १७२१, १७६२।

नोट—*'ब्यर्थ जनि लेहु कलंका'* इति। भाव कि पर्वतपरसे गिरने, अग्निमें जलने या समुद्रमें डूबनेसे सब तुम्हींको दोष देंगे, बुरा-भला कहेंगे। नारदजी एवं विधाताको कोई दोष न देगा और न उनका कोई दोष है, क्योंकि विधाता कर्मोंके अनुसार लिख देता है; यथा—*'कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥'* (२। २८२) हमारे कर्मोंके अनुसार उसने हमारा पति लिख दिया। अतः विधाताका दोष नहीं। और नारदजीने लिखा हुआ सुना दिया, जैसा होना है वह बता दिया; अतः उनका भी दोष नहीं। जब अपने ही कर्मोंका दोष है तब उनको बुरा कहनेसे तुमको कोई अच्छा न कहेगा। *'ब्यर्थ'* से यह भी जनाया कि ब्याह तो होना ही है और वर भी यही मिलना है; हाय-हाय करनेपर भी कुछ और नहीं हो सकता। लोग तुमको ही कलंक लगायेंगे कि बहुत रो-पीटकर कर ही क्या लिया?

छं०—जनि लेहु मातु कलंकु करुना परिहरहु अवसरु नहीं।
दुखु सुखु जो लिखा लिलार हमरें जाब जहँ पाउब तहीं॥
सुनि उमा बचन बिनीत कोमल सकल अबला सोचहीं।
बहु भाँति बिधिहि लगाइ दूषन नयन बारि बिमोचहीं॥

शब्दार्थ—**करुना**=मनका वह विकार जिससे पराये दुःखको देखकर दुःख होता है, पर यहाँ *'करुना'* से करुणाका कार्य 'शोक, दुःख, विलाप, रोना-पीटना' अर्थ गृहीत है; यथा—*'जनि अबला जिमि करुना करहू'* (कैकेयीवाक्य दशरथप्रति २। ३५)

अर्थ—हे माता! कलङ्क मत लो, रोना-धोना छोड़ो, यह अवसर शोकका नहीं है। हमारे ललाटमें जो दुःख-सुख लिखा है वह जहाँ ही मैं जाऊँगी वहाँ ही मुझे मिलेगा। उमाजीके बहुत नम्र, विनययुक्त और कोमल वचन सुनकर सब स्त्रियाँ सोच एवं सोच-विचार करने लगीं और विधाताको बहुत प्रकारसे दोष लगा-लगाकर नेत्रोंसे आँसू गिराने लगीं।

टिप्पणी—१ *'जनि लेहु कलंकु......'* इति। (क) मेनाजी विलाप करके रोती हैं; *''करि विलाप रोदति बदति......'* इसीपर कहती हैं कि *'करुना परिहरहु अवसरु नहीं।'* अर्थात् यह मङ्गलका अवसर है, न कि करुणाका। (करुणाका अवसर तो तभी था जब नारदसे पहिले-पहल समाचार सुना था। वि० त्रि०) यही कवि आगे कहते हैं—। *'लगे होन पुर मंगल गाना।'* (ख) *'दुखु सुखु जो लिखा......'* इति। प्रथम दुःखकी उत्पत्ति है पीछे सुखकी (और इस समय तो दुःख सिरपर पड़ा है) इसीसे प्रथम 'दुःख' कहा। दुःख-सुख दोनों कहनेका भाव कि ये दोनों साथ ही रहते हैं। कहीं भी जीव जाय, दोनों मिलते हैं। कहीं ऐसा नियम नहीं है कि यहाँ सुख ही मिलेगा या दुःख ही मिलेगा; यथा—*'जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभु प्रिय मिलन बियोगा॥ काल करम बस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥'* (२। १५०) (ग) *'सुनि उमा बचन बिनीत......'* इति। मेनाजी विलाप करके विकल हुईं; यथा—*'करि विलाप......जननी बिकल अवलोकि'*, तब स्त्रियाँ भी विकल हुईं। उमाजीने सोचकर विवेकयुक्त विनम्र वचन कहे कि *'दुखु सुखु जो लिखा......।'* इसीसे सब स्त्रियाँ सोचको प्राप्त हुईं। [पुनः, **'सोचहिं'**=विचार करने लगीं। अर्थात् विचारती हैं कि धन्य है यह कन्या! है तो यह बालिका, पर इसकी बुद्धि सयानोंसे भी अच्छी है। जो यह कहती है सो सत्य ही है। नारदका क्या दोष? उन्होंने तो प्रथम ही कह दिया था कि जो *'बिधि लिखा लिलार'* उसके अनुसार वर ऐसा अवश्य मिलेगा। दोष है तो विधिहीका न कि नारदका। यह भाव आगेके *'बिधिहि लगाइ दूषन'* से भी सिद्ध होता है। अर्थात् वे अब नारदको दोष नहीं देतीं। पंजाबीजीका मत है कि स्त्रियाँ पार्वतीजीके वाक्योंको सुनकर *'सोचहिं'* अर्थात् चिन्ता करती हैं कि ऐसी सुन्दर और बुद्धिमान् कन्याको पति कैसा अयोग्य मिला है, विधातापर इसका दोष धरकर सब रुदन करती हैं।] (घ) *'बहु भाँति......'* इति। बहुत भाँति दूषण लगाती हैं; यथा—

'सहित बिषाद परसपर कहहीं। बिधि करतब उलटे सब अहहीं॥ निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलंकू॥ रूख कलपतरु सागरु खारा॥' (२। ११९) इत्यादि ही बहुत प्रकार हैं। विधि होकर इसने ये—ये 'अविधि' कार्य किये। (ङ) *'बिधि'* को दोष लगानेका भाव कि माताने विधि और नारद दोनोंको दोष लगाया। पार्वतीजीने माताको मना किया—*'कत दोसु लगाइअ काहू'* यह समझकर स्त्रियाँ विधिको दोष देती हैं, क्योंकि पार्वतीजीने विधिके लिखनेका प्रमाण रखा है—*'करम लिखा जो', 'जो बिधि लिखा लिलार।'*

दो०—तेहि अवसर नारद सहित अरु रिषि सप्त समेत।
समाचार सुनि तुहिनगिरि गवनें तुरत निकेत॥९७॥

शब्दार्थ—**तुहिन**=पाला, तुषार, हिम। **तुहिनगिरि**=हिमाचल।

अर्थ—यह समाचार सुनते ही तुरंत उसी समय नारदमुनिसहित और सप्तर्षियोंको साथ लिये हुए हिमाचलराज घरमें गये॥ ९७॥

लमगोड़ाजी—किस कुशलतासे करुणरसके प्रवाहको शान्तरसकी ओर फेरा है! माताको भावीपर संतुष्ट होनेका उपदेश, पातिव्रत्य धर्मकी ओर संकेत जिस रूपमें यहाँ है, वही रूप दुःखी माताके सामने ठीक था।

नोट—१ यहाँ *'सहित'* और *'समेत'* दो शब्द पर्यायवाची देकर सूचित किया कि केवल नारदजीको ही नहीं घरमें ले गये किन्तु सप्तर्षियोंको भी साथ ले गये। सप्तर्षियोंका भी साथ ले जाना आवश्यक दिखाया। इसी कारण इनके लिये एक शब्द *'समेत'* अधिक दिया और जनाया कि केवल नारदमुनिके साथ जानेसे काम न चलेगा। पुनः *'सहित'* शब्दसे यह भी भाव लिया जा सकता है कि 'स हित' अर्थात् हित-मित्रों 'समेत' वा 'प्रेमसमेत नारदको सप्तर्षि समेत'। आदर-प्रेमसहित नारदजीको साथ ले जाना कहकर जनाया कि स्त्रियाँ इनको दोष लगा रही हैं, पर हिमाचल दोष न देकर इनका आदर कर रहे हैं। पुनः, दो पर्याय शब्द देनेका भाव यह भी हो सकता है कि नारदजीको लेकर जा रहे थे कि इतनेमें ही सप्तर्षि भी आ गये तब उनको भी साथ ले लिया। पर इसका प्रमाण अभी कोई मिला नहीं है।

नोट—२ *'नारद सहित अरु रिषि सप्त समेत'* इति। नारदजीको साथ ले आनेका भाव यह है कि स्त्रियाँ इनको दोष दे रही हैं; इसलिये ये ही उनको समझावें। दूसरे यह कि समझानेमें नारदजी बड़े प्रवीण हैं, सबसे श्रेष्ठ हैं, इनके समान समझाना किसीसे नहीं बन पड़ता। और सप्तर्षियोंको साथ इसलिये लाये कि स्त्रियोंका इस समय नारदपर विश्वास नहीं है, फिर प्रत्येक मनुष्य अपना समर्थन करता ही है परन्तु सात बड़े-बड़े महर्षि महात्मा भी वही बात कहेंगे तब विश्वास हो जायगा। तीसरे, (पं० रामकुमारजीके मतानुसार) 'सप्तर्षियोंको साथ इससे लाये कि इन्होंने नारदजीकी निन्दा की थी।' अतः अब नारदजीके वचनोंसे, उनके समझानेसे मेनाको बोध न होगा, न संतोष होगा, उनके वचनोंपर इनकी प्रतीति नहीं होनेकी। जब सप्तर्षियोंके सामने नारदजी मेनाजीको समझायेंगे और सप्तर्षि उनके वचनोंमें अपनी सहानुभूति दिखावेंगे, उनके वचनोंमें सहमत होते जायँगे तब विश्वास होगा कि ये सत्य कह रहे हैं, इनका कुछ भी दोष नहीं है। नारद सफाई देंगे, सप्तर्षि उनके गवाह या साक्षी होंगे। चौथे यह कि सप्तर्षि 'बरेषी' करने आये थे, उन्होंने हिमाचलको पार्वतीजीके ब्याहकी तैयारी करनेको कहा और लग्न धरवायी थी, इससे उनको भी मेनाजी दोषी समझती हैं, यथा—*'तैसी बरेषी कीन्हि पुनि मुनि सात स्वारथ सारथी।'* (पार्वतीमङ्गल ६७) अतः दोनों मुलजिमोंको साथ लाये कि दोनों समझावें।

तब नारद सबही समुझावा। पूरब कथा प्रसंगु सुनावा॥ १॥
मयना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी॥ २॥
अजा अनादि शक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि॥ ३॥
जग संभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥ ४॥

जनमीं प्रथम दक्षगृह जाई। नामु सती सुंदर तनु पाई॥ ५॥
तहहुँ सती संकरहि बिबाहीं। कथा प्रसिद्ध सकल जग माहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—अज=अजन्मा अर्थात् कारणरहित स्व इच्छित जन्म लेनेवाली। **अबिनासिनि**=नाशरहित। अर्थात् मोहादि कारणोंसे आत्मस्वरूप नहीं भूल सकता, किन्तु जिनका ज्ञान सदा एकरस बना रहता है (बैजनाथजी)।

अर्थ—तब नारदजीने सभीको समझाया। पूर्व-जन्म-कथाका प्रसंग सुनाया॥ १॥ (वे बोले) हे मेना! सत्य-सत्य हमारी बात सुनो, तुम्हारी बेटी जगत्-माता भवानी (शिवपत्नी) हैं॥ २॥ अजन्मा, अनादि शक्ति और अविनाशिनी हैं। सदा श्रीशिवजीके अर्धाङ्गमें निवास करनेवाली अर्थात् उनकी अर्द्धाङ्गिनी हैं॥ ३॥ जगत्को उत्पन्न, पालन और संहार करनेवाली हैं। अपनी इच्छासे लीलाशरीर धारण करनेवाली हैं॥ ४॥ पहिले दक्षके घर जाकर इन्होंने जन्म लिया (उस समय इनका) नाम सती था। इन्होंने सुन्दर शरीर पाया था॥ ५॥ वहाँ भी सतीने शङ्करहीको ब्याहा था (एवं सतीजी शङ्करको ब्याही गयी थीं)। यह कथा सारे संसारमें प्रसिद्ध है॥ ६॥

नोट—१ *'तब नारद सबही समुझावा।'''''* इति। केवल नारदजीने समझाया, सप्तर्षियोंने नहीं; इसका एक कारण यह है कि पूर्व इन्होंने गिरिजाजीका भविष्य और वर्तमान मेना और हिमाचलको सुनाया था, यद्यपि हिमाचलने इनको त्रिकालज्ञ कहकर 'भूत' काल भी पूछा था। उस समय 'भूत' कालका चरित सुनानेका अवसर न था, क्योंकि उसमें ऐश्वर्य भरा है। उसके सुननेसे माधुर्यमें दम्पतिको इनके पालन-पोषण आदिका यथार्थ सुख न प्राप्त होता। अब उस प्रसंगके सुनानेका अवसर है। पुनः पूर्वप्रसंगके सुनानेका अवसर है। पुनः, पूर्वप्रसंग सुनानेका भाव कि नारदजीने पूर्व कर्मगति *'जो बिधि लिखा लिलार'* कहकर समझाया था; परन्तु इस समय इनको उससे धैर्य और सन्तोष नहीं हो सकता था क्योंकि वे विधाताको भी तो दोष दे ही रही हैं। अतएव पूर्वका ऐश्वर्यमय प्रसंग कहकर धैर्य देंगे। (ख) *'सबही'* का भाव कि भवानीने केवल माताको समझाया था और इन्होंने सबको समझाया मेना तथा सब स्त्रियों आदिको जो वहाँ उपस्थित थीं। कैसे समझाया यह दूसरे चरणमें कहते हैं। *'पूरब कथा०'* अर्थात् पूर्व सती-तनकी कथाका प्रसंग सुनाया। आगे जैसा सुनाया सो कहते हैं।

टिप्पणी—१ *'मयना सत्य सुनहु मम बानी।'''''* इति। (क) यहाँ मेनाजी ही मुख्य हैं। इन्हींकी विकलतासे औरोंकी विकलता है। यथा—*'भईं बिकल अबला सकल दुखित देखि गिरिनारि।'* इनको बोध हो जानेसे और सब स्वयं शान्त हो जायँगी, इसीसे इन्हींको सम्बोधन करके कहते हैं। *'सत्य सुनहु मम बानी'* कथनका भाव कि नारदके वचनमें मेनाजीको विश्वास नहीं है, इससे वे कहते हैं कि हमारा वचन सत्य है, हम झूठ नहीं बोलते। अथवा, तुम्हारे समझानेके लिये हम बात बनाकर नहीं कहते, हम सत्य ही कहते हैं। वा, उमाका ऐश्वर्य कहना चाहते हैं, इनको इसमें विश्वास दिलानेके लिये *'सत्य'*—पद दिया। (पहिले जो कहा था उस वाणीमें कौतुकका पुट था। सत्य बातको गुप्त रखा था। वि० त्रि०) (ख) *'जगदंबा तव सुता भवानी'* इति। जगन्माता और शिवपत्नी हैं। पुनः, भवानी इनका नाम है और ये जगत्की माता हैं; यह ऐश्वर्य कहा। *'सुता तुम्हारि'* अर्थात् वे ही तुम्हारी सुता हैं; यह माधुर्य कहा, यथा—*'जनकसुता जग जननि जानकी। अतिशय प्रिय करुणानिधानकी॥'* में श्रीजानकीजीकी माधुर्यमें स्तुति है। (ग) *'अजा अनादि शक्ति अबिनासिनि।'* इति। इनका जन्म नहीं होता, इसीसे आदिरहित हैं, इनका नाश नहीं इसीसे अन्तरहित हैं, यथा—*'नहिं तव आदि अंत अवसाना।'* शक्ति कहकर दूसरे चरणमें बताते हैं कि किसकी शक्ति हैं—*'सदा संभु अरधंग निवासिनि।'* [अर्थात् शिवजीका नित्य संयोग इनको प्राप्त है। तुम्हारे देखनेमें ये अलग जान पड़ती हैं, पर वस्तुतः शम्भुसे इनका वियोग किसी कालमें नहीं है। इससे यह शङ्का जीमें हो सकती है कि इनको नित्य संयोग है और इनका जन्म तथा विनाश इत्यादि नहीं होते तो हमारे यहाँ जन्म कैसे हुआ? इसके निवारणार्थ *'निज इच्छा लीला बपु धारिनि'* कहा।

अर्थात् अपनी इच्छासे जब लीला करना चाहती हैं तब-तब शरीर धारण करती रहती हैं। *'अजा अनादि शक्ति अबिनासिनि'* कहकर इनको **'चिच्छक्तिरूपा'** जनाया।]

टिप्पणी—२ (क) *'जग संभव पालन लय कारिनि।……'* इति। सदा *'संभु अरधंग निवासिनि'* कहकर उत्पत्ति, पालन, संहार करना कहनेका भाव कि माया ईश्वरसे मिलकर उत्पत्ति आदि कर्म करती है। अर्थात् प्रकृति पुरुषसे मिलकर जगत्का व्यवहार करती है। जगत्की उत्पत्ति-पालन-संहार करती है। अर्थात् यही ब्रह्मा, विष्णु, महेश बनाती है; प्रधान माया त्रिगुण धारण करनेसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहलाती है। (ख) *'निज इच्छा लीला बपु धारिनि'* अर्थात् इनका शरीर धारण करना कर्मके वशसे नहीं होता, इनका शरीर *'लीला बपु'* है, पाञ्चभौतिक नहीं है। यह कहकर आगे वपु धरना कहते हैं। [जिस तरह श्रीशङ्करजीमें भगवान्के आवेशावतार होनेके कारण शास्त्रोंमें ईश्वरत्व प्रतिपादन किया गया है, उसी तरह श्रीपार्वतीजीमें भी भगवच्छक्तिके आवेश होनेसे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि करनेका निरूपण किया जाता है। (वेदान्तभूषण पं० रामकुमारदासजी)]

बाबा हरिदासजी (शीला)—*'तब नारद सब ही समुझावा……'* इति। जब श्रीशिवजीका कुवेष देख मेना आदि सब व्याकुल हुए तब नारदजीने श्रीशिवजीका परत्व कहकर सबको समझाया कि वे विश्वात्मा सर्वजीवोंके हृदय हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकाररूप सब उनके अधीन हैं, वे मलिन नहीं हैं, सदा एकरस दुःखसुखातीत हैं, इसीसे वे स्वतन्त्र हैं। ऐसे समझाकर तब *'पूरुब कथा प्रसंग'* सुनाया। *'पूरुब'* अर्थात् प्रकाशमयी कथा कही जो आगे कहते हैं। भवानी अर्थात् भव (संसार) से आनि अर्थात् अरिता (शत्रुता) है, रामचरितरूपी ओषधिको प्रकट करनेवाली हैं जिससे भवरोगका नाश होगा। अजा अर्थात् अज जो ब्रह्म उसकी अनादि शक्ति हैं। अविनाशिनी हैं। यावत् देव, दैत्य, राक्षस, नरादि जो समस्त जीव त्रैलोक्यमें हैं वे इन्हींकी शक्तिसे डोलते-फिरते अर्थात् चैतन्य हैं, ब्रह्म प्रकांशक है और ये चैतन्य करनेवाली हैं।

टिप्पणी—३ (क) *'जनमीं प्रथम दक्षगृह जाई……'* इति। प्रथमका भाव कि तुम्हारे ही यहाँ नहीं प्रथम जन्म लिया किन्तु तुम्हारे यहाँसे पहले दक्षके घर जन्म लिया था। *'जाई'* का भाव कि अपनी इच्छासे अवतार लिया *'निज इच्छा लीला बपु'* धारण किया इसीसे सुन्दर तन है, यथा—*'इच्छामय नर बेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥'* (१५२। १) *'कामरूप सुंदर तनु धारी।'*(९४। ५), *'हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज शरीरा॥'* (७। ८) इत्यादि। पुनः *'सुंदर तनु पाई'* कथनका भाव कि मेनाजी यह कहती थीं कि *'जेहि बिधि तुम्हहि रूप अस दीन्हा। तेहि जड़ बरु बाउर कस कीन्हा॥'* इसी बातको भावसे कहते हैं कि दक्षके यहाँ भी इनका सुन्दर तन था, वहाँ भी सती शङ्करजीको ब्याही गयी थीं। (ख) ☞ यहाँतक भवानीके नाम, रूप, लीला और धाम चारों कहे। *'अजा अनादि शक्ति अबिनासिनि'* यह नाम हैं; *'सदा संभु अरधंग निवासिनि'* यह धाम है; *'जग संभव पालन लय कारिनि'* यह लीला है और *'निज इच्छा लीला बपु धारिनि'* यह रूप है।—यह निर्गुणस्वरूपके सम्बन्धसे कहे; आगे सगुणरूपके सम्बन्धी ये चारों कहे हैं—*'जनमी प्रथम दक्षगृह जाई'* यह धाम*'नाम सती'* यह नाम, *'सुंदर तनु पाई'* यह रूप और *'एक बार आवत सिव संगा'* से *'अब जनमि तुम्हरे भवन'* तक लीला है। (ग) *'तहहुँ सती संकरहि बिबाहीं'* अर्थात् किसी भी जन्ममें शिवजीसे वियोग नहीं होता। (घ) *'कथा प्रसिद्ध सकल जग माहीं।'* अर्थात् सब जानते हैं, अतएव इसके कहनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। जो कथा प्रसिद्ध नहीं है सो हम सुनाते हैं—*'एक बार आवत……।'*

नोट—२ सती-जन्म, सती-तन-त्याग, वीरभद्रद्वारा दक्षयज्ञविध्वंस और पार्वतीजन्मकी कथाएँ श्रीमद्भागवत स्कन्ध ४ अ० १, २, ३, ४, ५, ७। मत्स्यपुराण, शिवपुराण, सप्तम्या वायवीय संहिता पूर्व भाग अ० १८, १९, द्वितीय सतीखण्ड अ० २५, २६ तथा पद्मपुराण और स्कन्दपुराणमें विस्तृतरूपसे हैं। सतीमोह, सीतावेषधारण, श्रीरामपरीक्षा और सतीत्यागकी कथा भावार्थरामायण, आनन्दरामायण सारकाण्ड सर्ग ७, वीरभद्रचम्पू ग्रन्थ, शिवपुराण रुद्रसंहिता सतीखण्ड अ० २४, २५, २६ में हैं। उद्धरण सतीमोहप्रकरणमें

दिये गये हैं। मानसमें सतीमोहप्रसंग *'उर उपजा संदेह बिसेषी।'* (५०। ५) से *'होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा।'* (५१। ४) तक है *'करेहु सो जतन बिबेकु बिचारी।'* (५२। ३) से *'मैं संकर कर कहा न माना।'* (५४। १) तक सीता-वेष धरकर परीक्षा लेने तथा पश्चात्ताप करनेका प्रसंग है।

नोट—३ *'अजा अनादि शक्ति……'* इत्यादि। मिलान कीजिये—**'एवं दाक्षायणी हित्वा सती पूर्वकलेवरम्। जज्ञे हिमवतः क्षेत्रे मेनायामिति शुश्रुम॥ तमेव दयितं भूय आवृङ्क्ते पतिमम्बिका। अनन्यभावैकगतिं शक्तिः सुप्तेव पूरुषम्॥'** (भा० ४। ७। ५९-६०) अर्थात् दक्षकन्या सतीने अपने पूर्व शरीरको इस प्रकार त्यागकर हिमालयकी भार्या मेनाके कोखसे जन्म लिया। जिस प्रकार प्रलयकालमें लीन हुई शक्ति फिर ईश्वरका ही आश्रय लेती है, उसी प्रकार अनन्यपरायण श्रीअम्बिकादेवीने उस जन्ममें भी अपने एकमात्र आश्रय और प्रियतम भगवान् शङ्करको ही वरा।

एक बार आवत शिव संगा। देखेउ रघुकुल* कमल पतंगा॥ ७॥
भएउ मोहु शिव कहा न कीन्हा†। भ्रम बस बेष सीअ कर लीन्हा‡॥ ८॥
छंद—सिय बेषु सतीं जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरीं।
हर बिरह जाइ बहोरि पितु कें जग्य जोगानल जरीं॥
अब जनमि तुम्हरें भवन निज पति लागि दारुन तप किया।
अस जानि संसय तजहु गिरिजा सर्वदा संकर प्रिया॥
दो०—सुनि नारद के बचन तब सब कर मिटा बिषाद।
छन महुँ ब्यापेउ सकल पुर घर घर यह संबाद॥ ९८॥

अर्थ—एक बार शिवजीके साथ (कैलासको) आते हुए इन्होंने रघुवंशरूपी कमलके (खिलानेको) सूर्य (रूप श्रीरामचन्द्रजी) को देखा॥ ७॥ (तब) इनको मोह हुआ। इन्होंने शिवजीका उपदेश न माना और भ्रमके वश होकर श्रीसीताजीका वेष बना लिया था॥ ८॥ सतीजीने जो सीताजीका रूप धारण किया उसी अपराधसे श्रीशङ्करजीने उनको त्याग दिया। शिववियोगमें फिर वे पिताके यज्ञमें जाकर योगाग्निमें जल मरीं। अब तुम्हारे घर जन्म लेकर अपने पति (शिवजी) के लिये उन्होंने बड़ा उग्र (कठिन) तप किया। ऐसा जानकर चिन्ता छोड़ो, गिरिजा तो सदा ही शिवजीकी प्रिया (पत्नी) हैं। तब नारदके वचन सुनकर सबका शोक मिट गया और क्षणभरमें घर-घर सारे नगरमें यह वृत्तान्त फैल गया॥ ९८॥

टिप्पणी—१ (क) *'एक बार आवत शिव संगा……'* इति। *'आवत'* अर्थात् दण्डकारण्यसे कैलासको आ रहे थे। *'रघुकुल कमल पतंगा'* का भाव कि जैसे सूर्यके समीप अन्धकार नहीं जाता वैसे ही श्रीरामजीके पास मोह नहीं जाता; यथा *'राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा॥'* (११६। ५) वही बात यहाँ कहते हैं। *'भएउ मोहु शिव कहा न कीन्हा'* अर्थात् वे श्रीरामजीमें मोह (आरोपण) करने लगीं कि जहाँ मोह संभव ही नहीं था। उनके स्वरूपमें भ्रम किया, यथा—*'भ्रमबस बेष सीअ कर लीन्हा।'* भ्रम भी तिमिर है, यथा—*'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा॥'* (११६। ४) (ख) *'सिय बेषु सती जो कीन्ह……'* इति। तात्पर्य कि श्रीरामजीमें मोह और भ्रम करनेसे नहीं त्यागा और न अपनी आज्ञाको भङ्ग करनेसे ही त्याग किया, क्योंकि शिवजी क्षमाशील हैं और ईश्वरमें मोह और भ्रम तो बड़े-बड़े ज्ञानियोंको हो जाता है; किंतु सीतावेष धारण करनेसे इनका परित्याग किया; क्योंकि शिवजीका सीताजीमें माताभाव है इत्यादि। (ग) *'हर बिरह जाइ……'* इति। 'हरके विरहके कारण योगाग्निमें जल गयीं।' कहनेका भाव कि योगाग्निसे विरहाग्नि अधिक तापदाता है, यथा—*'तजौं देह करु बेगि उपाई।*

* रबिकुल— पं० रा० व० श०। † कीन्हीं, लीन्हीं—रा० प्र०, पं०। ‡ यह हरिगीतिका छन्द है।

दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई॥ (यह श्रीसीताजीने त्रिजटासे कहा है।) पुनः, योगाग्निसे शरीर त्याग करना उत्तम रीति है, यथा—*'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपा बैकुंठ सिधारा॥'* (३। ९) *'तजि जोग पावन देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे।'* (३। ३६) [*'बहोरि'* शब्दका भाव कोई-कोई महानुभाव यह भी करते हैं कि पहिले विरहानलमें जलती रहीं, फिर यज्ञमें जानेपर क्रोधानलकी आँच लगी तब योगाग्नि प्रकट कर भस्म हो गयीं।] *'तपु किया'* अर्थात् हमने नहीं करवाया।

टिप्पणी—२ *'अस जानि संसय तजहु……'* इति। भाव कि न तो ब्रह्माने इनके लिये बावला वर बनाया और न हमने इनको बावले वरके लिये तप ही कराया, इन्होंने आप ही तप किया है। इनका शिवजीका सम्बन्ध कुछ नवीन नहीं है, ये तो सदासे शिवजीकी ही प्रिया अर्थात् अनादि शक्ति हैं। इन्होंने अपने पतिके लिये तप किया और शङ्करजी उनका सदा प्रिय करते हैं, यह कहकर दोनोंमें अन्योन्य प्रीति दिखायी। *'अस जानि'* अर्थात् जैसा पूर्व कह आये—*'जगदंबा तव सुता भवानी'* से *'अब जनमि तुम्हरें भवन निज पति लागि दारुन तप किया।'* तक। (यह दीपदेहरीन्यायसे दोनों तरफ लगता है।)

टिप्पणी—३ (क) *'सुनि नारद के बचन तब……'* इति। पार्वतीजीके समझानेसे विषाद न गया, क्योंकि वे अपना ऐश्वर्य अपने मुखसे न कह सकती थीं; जब नारदने उनका ऐश्वर्य वर्णन किया तब विषाद मिटा। *'तब नारद सबही समुझावा।'* से यहाँतक नारदके वचन हैं। *'तब नारद……'* उपक्रम है और *'सुनि नारद के बचन तब'* उपसंहार। [नारद शब्दके अनेक अर्थ हैं पर यहाँ '**नुः इदं नारं अज्ञानं द्यति नाशयति ताडयति**' नर जीवोंके अज्ञानको मार-पीटकर भगाते हैं, इससे नारद कहलाते हैं। यह धात्वर्थ यहाँ चरितार्थ हुआ है। प० प० प्र०] (ख) *'ब्यापेउ सकल पुर घर घर……।'* पूर्व दुःखकी बात घर-घर व्यापी थी, अब यह संवाद घर-घर व्यापा। प्रथम लड़कोंद्वारा घर-घर बात फैली थी, अब भी वैसे ही फैली। पुनः भाव कि घर-घरका विषाद दूर हो गया जो वहाँ उपस्थित थे उनका विषाद नारद-वचन सुननेसे चला गया और जो वहाँ नहीं थे उनका (अर्थात् पुरवासियोंका) विषाद यह संवाद घर-घर व्याप जानेसे दूर हो गया। पुनः आदिमें कहा था कि *'नारद सबही समुझावा',* अतः अन्तमें यहाँ कहा कि *'सब कर मिटा बिषाद।'* भाव कि नारदके वचन सुननेसे विषाद नहीं रह जाता। यहाँ 'भ्रान्त्यापह्नुति अलङ्कार' है।

पं० श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी—नारदजीने सारे महाकाव्यवाले रहस्यको खोल दिया; अब प्रहसन-कला शान्तरसके शिखरपर पहुँच गयी। तुलसीदासजीका कमाल ही यही है कि वे हर रसको उसके पूरे जोरमें लिखते हैं, पर अन्तमें महाकाव्य-कलाके उच्च शिखरपर पहुँचा देते हैं और नाटकीय एवं महाकाव्य-कलाका एकीकरण हो जाता है जो संसारमें सफलताके साथ किसी और कविसे बन नहीं पड़ा।

नोट—नारदजीका मेना और हिमाचलको समझाना शिवपुराण पार्वतीखण्डमें है। शिवपुराणमें नारदजीने ये बातें पहले ही बार हिमालयसे कही हैं। यथा—'**अनया कन्यया तेऽद्रे अर्द्धनारीश्वरो हरः।' शरीरार्द्धं हरस्यैषा हरिष्यति सुता तव।' 'एषा तव सुता काली दक्षजा ह्यभवत्पुरा॥' सती नामाभवत्तस्यास्सर्वमङ्गलदं सदा। सती सा वै दक्षकन्या भूत्वा रुद्रप्रियाभवत्॥' पितुर्यज्ञे तथा प्राप्यानादरं शङ्करस्य च। तं दृष्ट्वा कोपमाधायात्याक्षीद्देहं च सा सती॥' पुनस्सैव समुत्पन्ना तव गेहेऽम्बिका शिवा। पार्वती हरपत्नीयं भविष्यति न संशयः॥'** (२। ३। ८। २९-३०, ४५—४८)

तब मयना हिमवंतु अनंदे। पुनि पुनि पारबतीपद बंदे॥ १॥
नारि पुरुष सिसु जुवा सयानें। नगर लोग सब अति हरषानें॥ २॥
लगे होन पुर मंगल गाना। सजे सबहि हाटक घट * नाना॥ ३॥
भाँति अनेक भई जेवनारा। सूपसास्त्र अस कछु ब्यवहारा॥ ४॥

* १६६१ में 'घटकँ' है।

शब्दार्थ—**अनंदे**=आनन्दको प्राप्त हुए, सुखी हुए। **बंदे**=वन्दना की। स्तुति, प्रणाम, आदर, पूजन, यह सब 'वन्दना' है, यथा—*'पुनि मुनिगन्ह दुहुँ भाइन्ह बंदे। अभिमत आसिष पाइ अनंदे॥'* (अ० २४२) **जुवा** (युवा)= जवान, युवा अवस्थाके। **सयाने**=वृद्ध, बूढ़े। **हाटक**=सोना। **जेवनार**=भोजनके पदार्थ, रसोई। **ब्यवहारा** (व्यवहार)=क्रिया, रीति। **सूपसास्त्र**=पाकशास्त्र, वह पुस्तक जिसमें भोजनके अनेक विधान दिये हैं। रसोईमें दालका उत्तम बनना मुख्य समझा गया है। इसीसे रसोइयाकी परख होती है। इसी कारण पाकशास्त्रका नाम सूपशास्त्र हुआ। **सूप**=दाल।

अर्थ—तब मेना और हिमवान् अत्यन्त आनन्दमें मग्न हो गये और उन्होंने बारम्बार पार्वतीजीके चरणोंकी वन्दना की॥ १॥ स्त्री, पुरुष, बालक, जवान और वृद्ध नगरके सभी लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए॥ २॥ पुरमें मङ्गलगान होने लगा, सभीने अनेक प्रकारके (चित्रित) सोनेके कलश सजाये अर्थात् अपने-अपने द्वारपर सजाकर रखे॥ ३॥ जैसी कुछ पाकशास्त्रमें रीति है उसके अनुसार अनेक प्रकारकी रसोई बनी॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'तब मयना हिमवंतु……'* इति। मेना अधिक व्याकुल थीं, अतः उन्हें अधिक आनन्द हुआ, यथा—*'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥'* इसीसे मेनाको प्रथम लिखा। इसी प्रकार श्रीसुनयनाजीका अधिक आनन्द दिखानेके लिये उनका नाम जनक महाराजके पहले लिखा गया है, यथा—*'सखिन्ह सहित हरषी अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥ जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई॥'* (१। २६३) पुनः, नारदजीने मेनाहीको सम्बोधन करके समझाया था—*'मयना सत्य सुनहु मम बानी'* से *'अस जानि संसय तजहु'* तक; इससे भी उनको अधिक हर्ष है और इसीलिये पतिके पहिले इनको कहा गया। [हिमवान्ने यद्यपि धैर्य नहीं छोड़ा था, पर वरको देखकर वे भी विषण्ण थे, अब नारदजीका व्याख्यान और सप्तर्षि तथा स्वयं उमाकी मौनरूपेण स्वीकृति देखकर समझ गये कि उमा जगदम्बा हैं।…… (वि० त्रि०)] (ख) *'बंदे'* इति। ऐश्वर्य जानकर भगवतीभाव आ गया, अतः पुनः-पुनः प्रेमसे पद-वन्दना कर रहे हैं। पुनः भाव कि ऐश्वर्य सुनकर सुख हुआ, सुताभाव माननेसे भय हुआ; यथा—*'अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगतपिता मैं सुत करि जाना॥'* अतः *'पुनि पुनि पद बंदे।'*

टिप्पणी—२ *'नारि पुरुष सिसु जुवा सयानें।'* इति। अर्थात् जितनी भी स्त्रियाँ थीं, बाल, युवा और वृद्धा तथा तीनों अवस्थाके पुरुष—सभीको सुख हुआ। (ख) *'नगर लोग'* का भाव कि हिमाचलके घरके ही नहीं किंतु नगरभरके और कोई-कोई ही नहीं किंतु सभी। नगरभरके लोग 'अति' दुःखी हुए थे, इसीसे *'अति हरषाने'*। नारदके वचन सुनकर मेना और हिमवंतको आनन्द हुआ, पीछे जब बात नगरमें फैली तब पुरवासियोंको हर्ष हुआ, उसी क्रमसे आनन्द होना लिखा गया।

टिप्पणी—३ *'लगे होन पुर मंगल गाना।……'* इति (क) प्रथम मङ्गलगान हो रहा था; यथा—*'गावहिं मंगल सहित सनेहा', 'संग सुमंगल गावहिं नारी'*—वह मङ्गलगान बंद हो गया था क्योंकि *'अबलन्ह उर भय भएउ बिसेषा'* और उसकी जगह रोदन होने लगा था; यथा—*'भईं बिकल अबला सकल दुखित देखि गिरि नारि। करि बिलाप रोदति बदति सुता सनेह सँभारि॥'* अब वे मङ्गलगीत पुनः होने लगे। (ख) *'सजे सबहि हाटक घट……'* इति। (घट तो पहले ही सजे और रखे गये थे, पर जब मङ्गलगान बंद हो गया, करुणा छा गयी; तब वे उठाकर घरमें रख दिये गये थे। अब पुनः) घर-घर स्वर्णघट सज गये। घट सजाकर द्वारपर रखे गये, यथा—*'कंचन कलस बिचित्र सँवारे। सबनि धरे सजि निज निज द्वारे॥'* (ग) *'नाना'* इति। घट नाना प्रकारके हैं अर्थात् अनेक प्रकारसे बने हैं, अनेक प्रकारसे चित्रित हैं और अनेक हैं।

नोट—१ *'भाँति अनेक भई जेवनारा।……'* (क) *'भाँति अनेक'* अर्थात् चारों प्रकारका भोजन बना, यथा—*'चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक एक बिधि बरनि न जाई॥ सरस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती॥'* (३२९। २, ५) इन सबोंका बोध इस पदसे कराया। [बैजनाथजीका मत है कि भक्ष्य, भोज्य और चोष्य आदि विविध भाँतिके भोजन हैं। वे भक्ष्यमें चर्वणवत् रूखे स्वादिष्ट व्यंजनोंको

लेते हैं, जैसे लड्डू, बूँदी, खुर्मे, पापड़, समोसा, पिड़ाक, मठरी, खाजा आदि। भोज्यमें वे दाल-भात, खिचड़ी, तस्मई (क्षीरान्न खीर), रोटी, पूरी, पूवा, अमरती, जलेबी आदि मिठाई, दूध, दही, मलाई, मोहनभोग आदिको लेते हैं और चोष्यमें साग-भाजी तरकारीका ग्रहण करते हैं। श्रीकरुणासिंधुजी भक्ष्य, चोष्य और लेह्य चार प्रकार मानते हैं। चोष्य वस्तुत: वे पदार्थ हैं जो चूसे जाते हैं और लेह्य वे हैं जो चाटे जाते हैं। कोई भक्ष्य, चोष्य, लेह्य और पेय चार प्रकार मानते हैं। वीरकविजी पेय (पीनेयोग्य) को चोष्यमें गिनते हैं।] (ख) ☞ जनकपुरमें विवाहमें भातका परसना कहा है; यथा—*'सूपोदन सुरभी सरपि सुंदर स्वाद पुनीत। छन महुँ सब के परुसि गे चतुर सुआर बिनीत॥'* (३२८) परंतु हिमाचलके यहाँ देवताओंका भात खाना नहीं लिखते हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि देवताओंमें भात खानेकी रस्म (चाल) नहीं है, मनुष्योंमें ही है। दूसरे, यह कि वरके कुलमें कोई है ही नहीं, भात कौन खाये, भात बिरादरी और कुलके ही खाते हैं, इसीसे भातका परसना न लिखा।

पं० राजबहादुर लमगोड़ाजी—१ *'तब मयना हिमवंत अनंदे।……'* इति। यह हर्ष कितना टिकाऊ है। हमने करुणा, भयानक और हास्यरसोंके ज्वारभाटेको देखा है, पर अब हम महाकाव्यके उस उच्च शिखरपर हैं जहाँ स्थायी हर्ष है—शिव और शिवाकी जोड़ी संसारके कल्याणके लिये सामने है। इसी रूपकी वन्दना वेदमें है। यहाँ भी दम्पति माता-पिता भी इसीलिये *'पुनि पुनि पारबती पद बंदे।'*

नोट—२ लड़कियोंके पैर पूजनेका रहस्य भी यही है—हम छठीमें बालक और बालिकाका पूजन 'देवी' और देवरूपमें करके आरती उतारते हैं और विवाह-समय अपनी पुत्रीके पदका पूजन लक्ष्मी तथा पार्वतीरूपमें करते हैं।

नोट—३ तुलसीदासजीके प्रहसनकलाका यह सिद्धान्त न भूलना चाहिये कि कोई चरित्र हमेशा हास्यप्रद नहीं रहता, हम 'परिस्थिति' तथा किसी दोषके उभारके कारण हास्य-पात्र बन जाते हैं।

सो जेवनार कि जाइ बखानी। बसहिं भवन जेहि मातु भवानी॥५॥
सादर बोले सकल बराती। बिष्नु बिरंचि देव सब जाती॥६॥
बिबिध पाँति बैठी जेवनारा। लागे परुसन निपुन सुआरा॥७॥
नारिबृंद सुर जेवत जानी। लगीं देन गारी मृदु बानी॥८॥

शब्दार्थ—**कि**=कैसे, किस प्रकार।=क्या। **जेवनार**=बहुत-से मनुष्योंका एक साथ बैठकर भोजन करना; भोज, भोजन करनेवाले। **पाँति**=पंक्ति, पंगत।=एक साथ भोजन करनेवाले बिरादरीके लोग, परिवार-समूह। **सुआर**=रसोइया; रसोई बनानेवाले; सूपकार। **बृंद**=समूह, झुण्ड।

अर्थ—(भला) जिस घरमें (स्वयं) माता भवानीका निवास हो वहाँकी वह जेवनार किस प्रकार एवं क्या वर्णन की जा सकती है?॥५॥ (हिमाचलने) सब बारातियोंको तथा विष्णु, ब्रह्मा और सब जातिके देवताओंको आदरपूर्वक (भोजनके लिये) बुला लिया॥६॥ अनेक जातिके देवताओंकी 'पाँति' जेवनारको बैठी (एवं भोजन करनेवालोंकी अनेक पंक्तियाँ बैठीं। तब) प्रवीण रसोइये परसने लगे॥७॥ देवताओंको भोजन करते जानकर स्त्रीवृन्द मीठी कोमल वाणीसे गालियाँ देने लगीं। अर्थात् गालियाँ गाने लगीं॥८॥

टिप्पणी—१ *'सो जेवनार कि जाइ बखानी।……'* इति (क) *'मातु भवानी'* का भाव कि भोजन बनाने और खिलानेमें माता ही मुख्य है। (ख) *'बसहि भवन जेहि'* का भाव कि जिनके स्मरणमात्रसे दूसरोंके यहाँका पाक सुन्दर होता है वही वहाँ बसती हैं, तब उनके अपने भवनके पाक क्यों न सुन्दर होंगे? (ग) *'भवानी'* का भाव कि ये भवपत्नी हैं, अत: भवके लिये, भवके बारातियोंके लिये, इन्होंने अपने प्रभावसे जेवनारको सुन्दर कर दिया; यथा—*'जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई॥'* (३०६। ७)

टिप्पणी—२ *'सादर बोले सकल बराती।……'* इति। (क) देवता भावके भूखे हैं इसीसे विष्णु

आदिको सादर बुलाया। पाँवड़े देते लाना आदर है, यथा—*'परत पाँवड़े बसन अनूपा। सुतन्ह समेत गवन कियो भूपा॥'* (३२८। २) *'गिरिवर पठए बोलि लगन बेरा भइ। मंगल अरघ पाँवड़े देत चले लइ॥'* (७१) (पार्वतीमंगल) (ख) *'सकल बराती'* अर्थात् भूत, प्रेत, राक्षस, योगिनी इत्यादि सबको बुलाया। सब जातिके देवताओंका एक साथ बुलावा हुआ, इससे सूचित किया कि स्थान बड़ा भारी है जिसमें सबको एक ही समय न्यारे-न्यारे बिठाकर एक साथ भोजन कराया गया जैसा आगे लिखते हैं—*'बिबिध पाँति बैठी जेवनारा।'* [*'देव सब जाती'* अर्थात् देवताओंकी जितनी जातियाँ वा किस्में हैं वे सब बारातमें थे। जैसे—आठ दिक्पाल, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, उनचास मरुत, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, नाग, सिद्ध इत्यादि।] (ग) *'बिबिध पाँति·····'* का भाव कि देवता अनेक जातिके हैं, अपनी-अपनी जातिकी पाँति है, इसीसे अनेक जाति और अनेक पाँति दोनों कहे। (घ) *'निपुन सुआरा'* इति। रसोइयोंकी निपुणता यह है कि जिसको जितना चाहिये उतना ही परोसें, जो वस्तु जिसको चाहिये वह बिना माँगे देवें, पवित्रता और सावधानतासे परोसें, ऐसा न हो कि कोई पदार्थ इधर-उधर गिर जाय, कोमल वाणीसे नम्रतापूर्वक भोजन करावें। पुनः भाव कि क्षणमात्रमें इतनी बड़ी पंगतिको पारस कर दिया; यथा—*'छन महुँ सबके परुसि गे चतुर सुआर बिनीत॥'* (३२८) अनेक जाति-पाँतिकी पंगति है और बड़ी भारी है, अतः निपुण रसोइयोंहीका यहाँ काम है।

टिप्पणी—३ *'नारि बृंद सुर जेंवत जानी',* यहाँ जेंवत 'देखी' न कहकर *'जानी'* पद देकर जनाया कि स्त्रियाँ सब परदेमें हैं। भोजनके समय देवता सब वेदपाठ करते रहे। जब वेदपाठ बंद हुआ तब जान लिया कि अब भोजन कर रहे हैं अथवा और किसी प्रकार जाना हो।

छं०—गारीं मधुर सुर देहिं सुंदरि बिंग्य बचन सुनावहीं।
भोजनु करहिं सुर अति बिलंबु बिनोदु सुनि सचु पावहीं॥
जेवँत जो बढ़्यो अनंदु सो मुख कोटिहूँ न परै कह्यो।
अचवाइ दीन्हे पान गवनें बास जहँ जाको रह्यो॥

दो०—बहुरि मुनिन्ह हिमवंत कहुँ लगन सुनाई आइ।
समय बिलोकि बिबाह कर पठए देव बोलाइ॥ ९९॥

शब्दार्थ—सुर=स्वर, शब्द, आवाज। सुंदरि=गौरांगिनी, गौर वर्णवाली, स्त्रियाँ। बिनोदु=हास-विलास, मनोरंजक व्यंग, हँसी-दिल्लगीकी बातें। सचु=सुख; यथा—*'हँसहिं संभुगन अति सचु पायें।'* (१३४। ५) *'कर हरि भली प्रभु घोरा असवार भए मारी फौज सब कहैं लोग सचु पावहीं'* (भक्तिरसबोधिनी टीका)। **जेवँत** (जेंवना=जीमना; भोजन करना)=खाते समय। अचवाना=भोजनके बाद हाथ-मुँह धुलाना, कुल्ली कराना। आचमन कराना। लगन=लग्नका मुहूर्त; लग्नपत्रिका। ९१ (४) देखो।

अर्थ—स्त्रियाँ मधुरस्वरसे गालियाँ देती हैं और व्यंग्यभरे वचन सुनाती हैं। देवता विनोद (जो गालीके गानमें है उसे) सुनकर सुख पा रहे हैं (इसीसे वे) भोजन करनेमें बड़ी ही देर लगा रहे हैं। भोजनके समय जो आनन्द बढ़ा वह करोड़ों मुखोंसे भी नहीं कहा जा सकता। (भोजन कर चुकनेपर) हाथ-मुँह धुलवाकर सबको पान दिये गये (तब) सब जहाँ जिसका निवासस्थान था अर्थात् जो जहाँ ठहरे थे वहाँ चले गये। फिर मुनियोंने आकर हिमवान्‌को लग्नपत्रिका सुनायी। विवाहका समय देखकर उन्होंने देवताओंको बुला भेजा॥ ९९॥

टिप्पणी—१ (क) *'गारी मधुर सुर·······'* इति। मृदु वाणी और मधुर स्वरसे गाली देती हैं। व्यंग वचन सुनाती हैं क्योंकि प्रकट गाली कठोर होती है। वही व्यंग्यके भीतर मृदु और मधुर हो जाती है। एक तो उनकी वाणी मृदु और मधुर है, उसपर भी व्यंग्य सुनाती हैं। अर्थात् अपनी ओरके पुरुषोंका

नाम लेकर और ब्रह्मादि देवताओंकी स्त्रियोंके नाम लेकर व्यंग्यसे दोनोंका संयोग होना गाती हैं, यथा—*'जेंवत देहिं मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी॥'* (३२९। ६) [☞ विवाहकी गालियाँ मीठी कही जाती हैं, क्योंकि ये प्रेमकी गालियाँ हैं, केवल प्रमोद-विनोद, हासविलासके निमित्त गायी जाती हैं। दोहावलीमें इनको *'अमियमय'* कहा है; यथा—*'अमिय गारि गाऱ्यो गरल गारि कीन्ह करतार। प्रेम बैर की जननि जुग जानहिं बुध न गवाँर॥'* (३२८) किसी औरने भी कहा है—*'फीकी पै नीकी लगै जो विवाहमें गारि।'* गालियाँ जो और समय बैर विरोधके कारण हो जाती हैं, बुरी लगती हैं, वे ही विवाहमें प्रिय लगती हैं। जो अंगीकार करनेयोग्य नहीं उसे अंगीकार करनेसे यहाँ 'अनुज्ञा अलङ्कार' है। व्यंग्य जैसे शिवजीको कहती हैं कि इनके तो माँ-बापका ही ठिकाना नहीं।] (ख) *'भोजन करहिं सुर अति बिलंबु""'* इति। विलंबसे भोजन करते हैं जिसमें और सुननेको मिलें। आनन्दके लिये ही विनोद होता है अत: *'सचु पावहीं'* कहा। (ग) *'जेवँत जो बढ़्यो अनंद""'* यहाँ सचुका अर्थ आनन्द स्पष्ट कर दिया। *'जेवँत बढ़्यो अनंद'* का तात्पर्य कि जेवनार बहुत अच्छा बना है—*'सो जेवनार कि जाइ बखानी'* और गालियाँ बहुत अच्छी हुईं कि जिससे सब देवता प्रसन्न हुए। *'अँचवाइ दीन्हे पान""'* का भाव कि भृत्यगण सबको आचमन करवाते हैं, पान देनेवाले पान देते हैं, यथा—*'अँचइ पान सब काहू पाए।'* (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'यज्ञभुक् देवता आज भोजन करने बैठे हैं, स्तुतिके स्थानपर गाली हो रही है। उनके लिये गाली नयी वस्तु है। सो प्रेमकी गाली सुन-सुनकर आनन्द बढ़ रहा है। यह दृश्य देखकर लोग फूले नहीं समाते थे, अत: कहते हैं कि वर्णन नहीं हो सकता।) (ङ) *'बास जहँ जाको रह्यो'* से जनाया कि एक जनवासेमें सबका वास न था, कई जनवासे थे।

नोट—१ इस प्रकरणमें पहले भोजन कहा गया, तब विवाह और आगे श्रीसीतारामजीके विवाहमें प्रथम विवाह हुआ तब जेवनार। भेदका कारण यह है कि यहाँ देव-विवाह है, अत: इसमें देवलोककी रीति वर्ती गयी और श्रीसीतारामजी मनुष्य-अवतार हैं इसलिये उनके विवाहमें मनुष्यलोक (भूलोक) की रीतिसे प्रथम विवाह हुआ तब जेवनार। कोई-कोई महानुभाव कहते हैं कि जेवनार इससे पहले हुआ कि कहीं ऐसा न हो कि ब्याह करके दूलह तुरत चल दे, क्योंकि डरे हुए हैं कि परछन न होनेसे दूलह रुष्ट न हो गया हो। तथा देवताओंका प्रयोजन तो विवाहसे ही सिद्ध हो जाता है फिर उन्हें ठहरनेकी आवश्यकता नहीं। वे सदाके स्वार्थी हैं। अत: डर है कि विवाह होते ही वे दूलहको लेकर चल न दें। इससे जेवनार प्रथम ही कर दिया गया।

त्रिपाठीजीका मत है कि 'ब्याह मेष लग्नमें सूर्योदयके समय होनेवाला था, अत: रातको बारात ब्याहके पहिले ही जिमाई गयी। रामजीका ब्याह रात्रिके समय था, अत: बारातका अपने घर जिमाना दूसरे दिन हुआ।'

टिप्पणी—२ *'बहुरि मुनिन्ह हिमवंत"""'* इति। (क) *'मुनिन्ह'* बहुवचन देकर सूचित करते हैं कि सप्तर्षियोंने आकर लग्न जनायी; * क्योंकि हिमाचलके यहाँसे लग्न सप्तर्षि ले गये हैं—*'पत्री सप्तरिषिन्ह सोइ दीन्ही। गहि पद बिनय हिमाचल कीन्ही॥'* (९१। ५) वही सप्तर्षि अब विवाह कराते हैं। [इस विवाहमें गर्ग, वसिष्ठ, बृहस्पति, अत्रि, गौतम, भागुरि, भृगु, शक्ति, जमदग्नि, पराशर, मार्कण्डेय, शिलावाक्, शून्यपाल, अक्षतस्त्रम्, अगस्त्य, च्यवन और गोभिल आदि महर्षि विवाहकार्य विधिपूर्वक सम्पन्न करानेके लिये उपस्थित थे। गर्गजी हिमवान्‌के पुरोहित थे।] (ख) लग्न सुनानेका तात्पर्य कि हिमाचल अब देवताओंको बुला भेजें, यही बात आगे कहते हैं—*'समय बिलोकि""।'* (वि० त्रि० लिखते हैं कि प्रात:कालमें सप्तर्षि लोग लग्न सुनाने आये, अर्थात् वरपक्षसे कहलाया गया कि बुलावा जल्दी भेजें। नहीं तो हिमवान्‌ने ही ऋषियोंको बुलाकर लग्न स्थिर कराया था, उन्हें फिरसे सुनानेकी आवश्यकता क्या थी?') (ग) *'समय बिलोकि।'* ऋषियोंने

---

* इसीसे और भी सर्वत्र बहुवचन ही कहा है, यथा—'बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाई', 'जस बिबाह कै बिधि श्रुति गाई। महा मुनिन्ह सो सब करवाई', 'बेदमंत्र मुनिवर उच्चरहीं।'

आगेसे लग्न जनायी और हिमाचलने लग्नका समय देखा, इससे जाना गया कि हिमाचल पण्डित हैं।* *'सुनाई आइ'* का भाव कि लग्नकी बात बहुत सूक्ष्म है, कहला भेजनेके लायक नहीं थी; मुनियोंने स्वयं ही आकर सुनायी। ☞ अब सर्वत्र देवताओंहीका नाम देते हैं, शिवगणोंका नाम कहीं नहीं कहते, यथा—*'सादर बोले सकल बराती। बिष्नु बिरंचि देव सब जाती॥'* (१) *'भोजन करहिं सुर अति बिलंब बिनोदु सुनि सचु पावहीं।'* (२) *'समय बिलोकि बिबाह कर पठए देव बोलाइ।'* (३) *'बोलि सकल सुर सादर लीन्हे। सबहि जथोचित आसन दीन्हे॥'* (४) *जगदंबिका जानि भव भामा। सुरन्ह मनहि मन कीन्ह प्रनामा॥'* (५) तथा *'पानिग्रहन जब कीन्ह महेसा। हिय हरषे तब सकल सुरेसा॥'* (६) इससे यह सूचित होता है कि उन सबोंने भी अब देवताओंके समान सुन्दर रूप धारण कर लिया है। अथवा बारात पूरी करके वे सब चले गये। (सबने सुन्दर रूप धारण कर लिये यह बात पार्वतीमङ्गलके *'बर बिलोकि बिधु गौर सुअङ्ग उजागर। करति आरती सासु मगन सुखसागर॥'* (७३) से अनुमानित होती है। अब शिवजीका भी भयंकर रूप नहीं है।)

बोलि सकल सुर सादर लीन्हे। सबहि जथोचित आसन दीन्हे॥ १॥
बेदी बेदबिधान सँवारी। सुभग सुमंगल गावहिं नारी॥ २॥
सिंघासनु अति दिब्य सुहावा। जाइ न बरनि† बिरंचि बनावा॥ ३॥
बैठे शिव बिप्रन्ह सिरु नाई। हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई॥ ४॥

शब्दार्थ—**जथोचित** (यथोचित)=यथायोग्य। (९४। ७) देखो। **बेदी** (वेदी, वेदिका)=यज्ञादिक शुभकर्मोंमें भूमिको शुद्ध और साफ करके उसपर कुछ शुद्ध मिट्टी डालकर प्रायः चौकोर भूमि तैयार करते हैं, इसीको वेदी कहते हैं। **बिधान**=(में कही हुई) रीति। **दिब्य**=अलौकिक, बहुत ही सुन्दर।

अर्थ—(हिमाचलने) सब देवताओंको आदरपूर्वक बुलवा लिया और सबको यथायोग्य आसन (बैठनेको) दिये॥ १॥ वेदोक्त रीतिसे वेदी सजायी गयी। स्त्रियाँ सुन्दर श्रेष्ठ मङ्गल गीत गाने लगीं॥ २॥ (वेदिकापर) अत्यन्त दिव्य सुन्दर सिंहासन (सुशोभित है जो) वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि स्वयं ब्रह्माजीका बनाया हुआ है॥ ३॥ ब्राह्मणोंको मस्तक नवाकर और हृदयमें अपने इष्टदेव श्रीरघुनाथजीका स्मरण करके शिवजी उस सिंहासनपर बैठे॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'बोलि सकल सुर……'* इति। बुला भेजा। जब वे आ गये तब सबको यथायोग्य आसन दिया। *'सकल'*—पद देनेका भाव कि सभी देवता मानकी इच्छा रखते हैं, इसीसे सबको बुलाया और सबको आसन दिये, यथा—*'सादर बोले सकल बराती'*। *'सादर'* अर्थात् पाँवड़े देते हुए जैसे भोजनके समय बुलाया था वैसे ही विवाहके समय बुलाया। बरातियोंको आसन देकर आगे वरको आसन देना कहते हैं। (ख) *'बेदी बेद बिधान……'* इति। देवताओंमें वेदका प्रमाण है, इसीसे सर्वत्र वेदका ही प्रमाण कहते हैं; यथा—*'सुदिन सुनखत सुघरी सोचाई। बेगि बेदबिधि लगन धराई॥'* (१), *'बेदी बेद बिधान सँवारी'* (२), *'जस बिबाह कै बिधि श्रुति गाई'* (३) **'सँवारी'** कहकर जनाया कि वेदी अत्यन्त सुन्दर बनी है। वेदी बैठनेके लिये बनी है; यथा—*'बेदी पर मुनि साधु समाजू। सीयसहित राजत रघुराजू॥'* (अ०) वेदीपर सिंहासन है। उसपर शिवजी बैठे, स्त्रियाँ वरके आगमनके मङ्गल गीत गाती हैं। ☞ सुभग और सुमङ्गलका 'सु' दोनों सुन्दरताके वाचक होनेसे पुनरुक्तिका आभास है। इसका समाधान यह है कि सुभगका स्त्रियोंके गानेसे सम्बन्ध है और सुमङ्गलका 'सु' मङ्गलसे सम्बन्ध रखता है।

टिप्पणी—२ (क) *'सिंघासनु अति दिब्य……'* इति। वेदी दिव्य है, सुहायी है और सिंहासन अति

* उस समय वृश्चिक लग्न थी—(वै०)। विवाह मेषलग्नमें हुआ—(वि० त्रि०)।

† बिचित्र—१७०४, वीरकवि। बिरंचि—१६६१, १७२१, १७६२, को० रा०, पं०, वै०।

दिव्य है, अति सुहावा है क्योंकि वेदीके ऊपर रखा हुआ है, मानो विरंचिका बनाया है—यहाँ लुप्तोत्प्रेक्षा है। अथवा, विरंचिका ही बनाया है कहीं इसका प्रमाण अवश्य होगा।* (ख) ***'बैठे शिव बिप्रन्ह……'*** इति। विप्रोंको सिर नवानेका भाव कि विप्र सब नीचे बैठे हैं और आप सिंहासनपर बैठने जाते हैं, अत: अपराध क्षमार्थ ऐसा किया। अथवा ब्राह्मण रामजीके इष्ट हैं इससे प्रथम विप्रोंको स्मरण किया तब रामजीका। ब्राह्मण वहाँ उपस्थित हैं, वे ही विवाह करा रहे हैं इससे उन्हें सिर नवाया (यह लोकरीति है, शिष्टाचार है) और श्रीरामजी वहाँ प्रकट नहीं हैं इसीसे उनको हृदयमें स्मरण किया। ***'निज प्रभु'*** से कोई दूसरा प्रभु भी पाया जाता है, अत: ***'रघुराई'*** कहकर दाशरथी श्रीरामजीको ***'निज प्रभु'*** बताया। (पुन: शिवजी भक्तिपथके मुख्य आचार्य हैं और भक्तिपथका प्रथमपाद विन्यास है ***'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती।'*** अत: प्रथम विप्रोंको प्रणाम किया। वि० त्रि०) [***'हृदय सुमिरि'*** का भाव महात्मा लोग यह कहते हैं कि अमनिया पदार्थ प्रथम अपने इष्टको अर्पण वा निवेदन करके तब स्वयं ग्रहण करना चाहिये—***'तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥'*** इसलिये प्रभुको सिंहासन अर्पण करके तब उसपर बैठे। मङ्गलकार्योंमें इष्टदेवका स्मरण आरम्भमें करना उचित ही है।] रघुनाथजी शिवजीके इष्टदेव और 'निज प्रभु' हैं; यथा ***'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।'*** (५१। ८) ***'सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी॥'*** (११९। २)

बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाईं। करि सिंगारु सखीं लै आईं॥ ५॥
देखत रूप सकल सुर मोहे। बरनै छबि अस जग कबि को हे॥ ६॥
जगदंबिका जानि भवभामा†। सुरन्ह मनहि मन कीन्ह प्रनामा॥ ७॥
सुंदरता मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहु‡ बदन बखानी॥ ८॥

शब्दार्थ—**मोहे**=मोहित हो गये, लुभा गये, रीझे, लुब्ध हो गये, यथा ***'देखि रूप मोहे नरनारी।'*** (२४८। ४) ***'चारयो दल दूलह चारु बने। मोहे सुर औरन कौन गने॥'***, (केशव) ***'देखत बपु अति स्यामल सोहै। देखत सुरनर को मन मोहै॥'*** **बहुरि**=फिर अर्थात् तत्पश्चात्।

अर्थ—तब मुनीश्वरोंने उमाको बुलाया अर्थात् आज्ञा दी कि उमाको ले आओ। सखियाँ उनका शृङ्गार करके उन्हें ले आयीं॥ ५॥ उनके रूपको देखते ही समस्त देवता मुग्ध हो गये (तब भला) संसारमें ऐसा कवि कौन है जो उस छबिका वर्णन कर सके?॥ ६॥ जगन्माता और भव (शङ्करजी) की पत्नी जानकर देवताओंने उन्हें मन-ही-मन प्रणाम किया॥ ७॥ भवानीजी सुन्दरताकी सीमा हैं, करोड़ों मुखोंसे भी बखानी नहीं जा सकतीं॥ ८॥

---

* यहाँ कोई-कोई शंका करते हैं कि 'पूर्व कह आये हैं कि 'पुर सोभा अवलोकि सुहाई। लघु लागइ बिरंचि निपुनाई॥' तो अब ब्रह्माके बनाये हुए सिंहासनमें क्या चतुरता है जो वर्णन नहीं हो सकती?' और इसके समाधानार्थ यह अर्थ करते हैं कि—(१) उसका बनाव विरंचिसे भी वर्णन नहीं हो सकता। (२) जो ब्रह्माके बनाये हुए हैं वे वर्णन नहीं कर सकते। (पं०) दासकी समझमें इसका भाव यह समझना चाहिये कि ब्रह्माजीने इसे अपने हाथोंसे बनाया है, इसीसे वर्णन नहीं किया जा सकता। यथा 'जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे……मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं।' (१। ३११) 'सीयमातु किमि जाइ बखानी।……सब समेटि बिधि रची बनाई।' (३२४। १, २) इत्यादि स्थलोंमें जहाँ-जहाँ ब्रह्माजीका स्वयं बनाना या रचना लिखा है वहाँ-वहाँ 'बरनि न जाई' या इसीके समानार्थी शब्द ग्रन्थकारने प्रयुक्त किये हैं, तथा यहाँ भी इसी प्रकार समझ लेनेमें कोई शङ्काकी बात नहीं जान पड़ती। अत्यन्त सुन्दरताके वर्णनमें प्राय: विरंचिका बनाया कहा करते हैं; यथा 'जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई॥' (१), 'चारु बजार बिचित्र अँबारी। मनिमय जनु बिधि स्वकर सँवारी॥' (२)' 'मनिखंभ भीति बिरंचि बिरचि कनकमनि मरकत खची', (३) तथा यहाँ अत्यन्त सुन्दरताके कारण 'विरंचि बनावा' कहा गया। सब सृष्टि बिरंचि सङ्कल्पसे रचते हैं।

† बामा—ना० प्र०, १७०४। ‡ कोटिन्ह—ना० प्र०। १७०४। कोटिहु—१६६१, १७२१, १७६२; छ०, को० रा०।

टिप्पणी—१ *'बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाईं'* इति। (क) *'बहुरि'* पदसे पाया गया कि मुनियोंने ही मन्त्र पढ़कर शिवजीको सिंहासन अर्पण किया, उसपर उनको बिठाया। *'मुनीसन्ह'* से सप्तर्षिका ग्रहण पार्वतीमङ्गलके अनुसार हो सकता है एवं औरोंका भी, जैसा पूर्व दोहा ९९ में लिखा गया है; यथा—*'सप्त रिषिन्ह बिधि कहेउ बिलंबु न लाइअ। लगन बेर भै बेगि बिधान बनाइअ॥' 'थापि अनल हर बरहि बसन पहिराएउ। आनहु दुलहिनि बेगि समउ अब आएउ॥'* अतएव उन्होंने उमाको बुलाया। और बारातियोंको हिमाचलहीने सादर आसन देकर बैठाया, जैसे जनक महाराजने किया था—*'निज पानि जनक सुजान सब कहँ आनि सिंघासन धरे।'* बोलाईं अर्थात् लानेकी आज्ञा दी। माता जानकर शृङ्गारवर्णन न किया। एक ही चरणमें शृङ्गार करना और ले आना कहकर ले आने एवं शृङ्गार करनेमें अति शीघ्रता दिखायी, बहुत सखियोंने मिलकर शृङ्गार किया। अलंकृत कन्याके दानका विधान है। अतः शृङ्गार करके लायीं। (ख) *'देखत रूप सकल सुर मोहे……'* इति। यह रूपकी सुन्दरता है। भगवतीकी शोभा देखकर सब देवता मोहित हो गये और देवी मोहरूप हैं, सबको मोहको प्राप्त कर देती हैं। यथा—**'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥'**, *'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह बस करई॥'* इसी कारण सब देवता मोहित हो गये। इसका हाल आगे लिखते हैं—*'जगदंबिका जानि……'* *'बरनै छबि अस जग कबि को है'* की व्याख्या आगे लिखते हैं—*'सुंदरता मरजाद……'*। ये दोनों बातें क्रमसे लिखी हैं। (ग) *'बरनै छबि अस जग कबि को है'* का भाव कि दिव्य बुद्धिवाले सब देवता छबि देखकर मोहित हो गये तब जगत्‌में प्राकृत बुद्धिवाले कवि क्या वर्णन करेंगे? [श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि रूप वह कहा जाता है जो बिना भूषणहीके भूषित हो। ऐसे साधारण रूपको तो देखते ही देवगण मोहित हो जाते हैं तब फिर भला उस रूपका शृङ्गार जब होगा तो उसे भला कौन कवि वर्णन कर सकता है? पुनः, जब देवता ही मोहित हो गये तब मनुष्य ऐसा कौन है जो उस रूप और छबिको नखसे शिखतक देख सका हो? और जब देखा ही नहीं तब वर्णन क्यों कर सके? कोई-कोई महानुभाव कहते हैं कि यहाँ कालिदासजीकी ओर संकेत है। उन्होंने उमाजीका नखशिख वर्णन किया। उसका फल यह मिला कि उनको कुष्ठ हो गया। बहुत विनय करनेपर उन्हें 'रघुवंश' काव्य बनानेकी आज्ञा हुई जिसके बनानेपर रोग दूर हुआ।]

टिप्पणी—२ *'जगदंबिका जानि भवभामा……।'* इति। (क) प्रथम रूप देखकर मोहित हो गये, फिर प्रबोध होनेपर जगत्‌की माता भवभामा जानकर मातृबुद्धिसे प्रणाम किया। (ख) मनमें प्रणाम करनेका भाव कि माधुर्यके समयमें ऐश्वर्य न प्रकट किया, इस विचारसे कि हमारे प्रणाम करनेसे इनका ऐश्वर्य खुल जायगा। (और ऐश्वर्य खुलनेसे विवाहकार्यमें विघ्न पड़ेगा।) (ग) *'जानि भवभामा'* का भाव कि भव (शंकरजी) जगत् वन्द्य हैं—*'संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावहिं सीसा॥'* उनकी ये भामा हैं अतः ये भी जगत्-वन्द्य हैं—यह जानकर प्रणाम किया। (घ) *'जगदंबा'* का भाव कि जगत्‌भरकी शोभा इन्हींकी बनायी है।

नोट—मिलान कीजिये, पार्वतीमङ्गलके—*'सखी सुआसिनि संग गौरि सुठि सोहति। प्रगट रूपमय मूरति जनु जगु मोहति॥ ७६॥ भूषन बसन समय सम सोभा सो भली। सुखमा बेलि नवल जनु रूप फलनि फली॥ कहहु काहि पटतरिय गौरि गुन रूपहि। सिंधु कहिय जेहि भाँति सरिस सर कूपहि॥ ७७॥ आवत उमहिं बिलोकि सीस सुर नावहिं। भए कृतारथ जनम जानि सुखु पावहिं॥'*

टिप्पणी—३ *'सुंदरता मरजाद भवानी।……'* इति। (क) भाव कि मर्यादातक कोई पहुँचता नहीं, इससे उत्कृष्ट सुन्दरता कहीं है नहीं। *'कोटिहु बदन'* का भाव कि एक तो करोड़ों मुख किसीके हैं नहीं, हो भी तो उनका सौन्दर्य बखाना नहीं जा सकता। ☞ *'कोटिहु'* कहकर शेष शारदा आदिका भी निरादर किया। (ख) ☞ नारदजीने पार्वतीजीके तीन नाम कहे थे, यथा—*'नाम उमा अंबिका भवानी।'* यहाँ उसी क्रमसे तीनों नाम लिखे गये हैं। यथा—(१) *'बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाईं'*, (२) *जगदंबिका जानि भवभामा'* (३) *'सुंदरता मरजाद भवानी।'*

छंद—कोटिहु बदन नहिं बनै बरनत जगजननि सोभा महा।
सकुचहिं कहत श्रुति सेष सारद मंदमति तुलसी कहा॥
छबिखानि मातु भवानि गवनीं मध्य मंडप शिव जहाँ।
अवलोकि सकहिं न सकुच पतिपद कमल मनु मधुकरु तहाँ॥

दो०—मुनि अनुसासन गनपतिहि पूजेउ संभु भवानि।
कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जिय जानि॥ १०० ॥

अर्थ—जगज्जननी पार्वतीजीकी महान् शोभा करोड़ों मुखोंसे भी वर्णन करते नहीं बनती। श्रुति, शेष और सरस्वतीजीतक कहनेमें सकुचते हैं, तब भला मन्दबुद्धि तुलसीदास क्या है। (किस गिनतीमें है जो कहेगा।) छबिकी खानि माता भवानी मण्डपके बीचमें जहाँ शिवजी थे, गयीं। संकोचवश पतिके चरण-कमलोंको वे देख नहीं सकतीं, पर उनका मनरूपी भौंरा वहीं था। मुनियोंकी आज्ञासे श्रीशिवपार्वतीजीने गणपतिजीका पूजन किया। हृदयसे देवताओंको अनादि जानकर कोई इस बातको सुनकर संशय न करे॥ १००॥

टिप्पणी—१ (क) *'कोटिहु बदन नहिं बनै बरनत'* अर्थात् सहस्र, दो सहस्रकी कौन कहे जिसके करोड़ों मुख हों वह भी वर्णन नहीं कर सकता, यह कहकर आगे उसका कारण बताते हैं कि *'जगजननि'* ये जगत्-माता हैं और *'सोभा महा'* अर्थात् उनकी शोभा अपार है। *'जगजननि'* का भाव कि जगत्भरकी शोभा इन्हींकी बनायी हुई है, तब इनकी शोभा कौन कह सके? अथवा जगत्भरकी ये माता हैं, सारी प्राकृतिक शोभा इन्हींसे उत्पन्न हुई है, तब भला वह आपकी शोभाकी उपमा कैसे हो सकती है? अथवा, माताकी शोभा कौन कहे, जगत्मात्र उनकी संतान है। माताकी शोभा-सुन्दरता वर्णन करनेका अधिकार बालकको नहीं है; यथा—*'जगत मातु पितु संभु भवानी। तेहिं सिंगारु न कहौं बखानी ॥'* (१०३। ४) (ख) *'सोभा महा'* इति। महाशोभा है, इसीसे सर्वत्र शोभा विशेष लिखते हैं, यथा—

रूप देखकर देवता मोहित हो गये—*'देखत रूप सकल सुर मोहे' (१)*
छबिकी खानि हैं, कोई कवि कह नहीं सकता—*'बरनै छबि अस जग कवि को' (२)*
सुन्दरताकी मर्यादा हैं, कोटिहु बदनसे कहते नहीं बनती—*'सुंदरता मरजाद भवानी।……' (३)*
शोभा महान् है, श्रुति-शेषादि नहीं कह सकते—*'सकुचहिं कहत……' (४)*

टिप्पणी—२ (क) *'सकुचहिं कहत श्रुति सेष सारद।'* श्रुति, शेष और शारदा ये सब वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। पुन:, श्रुतिसे भूलोक, शेषसे पाताल और शारदासे ब्रह्मलोक एवं स्वर्गलोकके सर्वश्रेष्ठ वक्ता सूचित किये। इन सबका सकुचाना कहकर त्रैलोक्यके समस्त श्रेष्ठ वक्ताओंको असमर्थ दिखाया। इस तरह *'सकुचहिं कहत……'* से महाशोभाका अर्थ खोला। यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलङ्कार' है। योग्य वक्ताओंमें वर्णनकी अयोग्यता कहकर शोभाकी अतिशय बड़ाई कही गयी। पुन: *'सकुचहिं कहत श्रुति सेष सारद'* का भाव कि जब *'कोटिहु बदन'* से नहीं कहते बनती तब यदि हम कहते हैं तो पार न मिलेगा और पार न मिलनेसे हमारी लघुता होती है, यह सोचकर सकुचते हैं। (ख) *'मंदमति तुलसी कहा'* अर्थात् जब श्रुति-शेषादि दिव्य बुद्धिवाले कहनेमें सकुचते हैं तब मैं तुलसी तो मतिमन्द, मन्दबुद्धि हूँ। मैं क्या हूँ, कुछ भी तो नहीं हूँ जो वर्णनका साहस कर सकूँ। (ग) *'छबि खानि मातु……'* इति। प्रथम सखियाँ श्रीपार्वतीजीको मण्डपकी सीमामें ले आयी थीं, अब 'मध्य-मण्डप' को चलीं। ☞ यहाँ शोभा-वर्णनके सम्बन्धमें जननि शब्द अनेक बार आया है। यह साभिप्राय है। सबके साथ *'जननि'* पद देकर यह बात दरसाते हैं कि सबका इनके प्रति मातृभाव है। मातृबुद्धिसे ही देवताओंने प्रणाम किया—*'जगदंबिका जानि भवभामा। सुरन्ह मनहिं मन कीन्ह प्रनामा॥'* *'जगजननि'* की शोभा श्रुति-शेषादि माता मानकर ही नहीं कह सकते। और वक्ता याज्ञवल्क्यजी मातृभावसे कहते हैं कि *'छबिखानि मातु भवानि……।'*

टिप्पणी—३ *'अवलोकि सकहिं न……'* इति। (क) अर्थात् नीचे दृष्टि किये हैं, इसीसे चरण देखे। (ख) *'पतिपद कमल……'* अर्थात् जहाँ पतिके पदकमल हैं वहाँ इनका मन मधुकर है। ☞ पूर्व सतीतनमें शिवजीके चरणोंमें स्नेह था, *'जौं मोरे सिवचरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्यब्रत एहू॥'* अब उमातनमें भी शिवचरणमें स्नेह कहते हैं। पतिपदमें प्रेम करना पतिव्रताका धर्म है, यथा—*'एकै धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा॥'* [(ग) *'सकुच'* का कारण लोकमर्यादा, लोकलज्जा है। सब समाज जनाती, बराती वहाँ बैठे हैं और आप दुलहिन बनी हैं। पंजाबीजी सतीतनमें पति-अवज्ञाके कारण भी संकोच होना कहते हैं। *'पति पद कमल मन मधुकर तहाँ'* में 'परम्परित रूपक है'। (घ) मन-मधुकर चरणोंमें कबसे लगा है, प्राप्त होनेमें संकोच बाधक हो रहा है। भाव यह कि शिवजीका सौन्दर्य कैसा था जिसपर त्रैलोक्यसुन्दरी उमा मुग्ध थीं *'अंग अंगपर उदित रूपमय पूषन'* (पा० मं०) वि० त्रि०]

टिप्पणी—४ *'मुनि अनुसासन गनपतिहि……'* इति। (क) *'कोउ सुनि संसय करै जनि'* कहा क्योंकि शिव-पार्वती-विवाह ही अभी हो रहा है, गणेशजीका जन्म हुआ ही नहीं, तब गणेशपूजन कैसे हो रहा है?' यह संदेह मनमें प्राप्त होनेकी सम्भावना है, अतएव कवि स्वयं ही उसका समाधान करते चलते हैं। (ख) *'सुर अनादि जिय जानि'* इति। सब देवताओंके मन्त्र ऋचाएँ लिखी हैं, इससे सिद्ध होता है कि सब देवता अनादि हैं।

नोट—१ (क) श्रीकाष्ठजिह्वस्वामीजी लिखते हैं कि मन्त्रमयी मूर्ति तो सनातन है, अनादि है। अतः गणेशजी अनादि कहे गये। रा० प० प० कार लिखते हैं कि 'मन्त्रमयी मूर्ति अनादि मीमांसारीति वेदोंमें भी लिखा ज्यों-का-त्यों ब्रह्माजीने रचा' [प्रमाण श्रुतिः—**'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।'** (यजुर्वेद)] (ख) गोस्वामीजी तो सभीको श्रीसीतराममय देखते हैं—*'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'।* इस प्रकार भी सब देवता अनादि हैं। (ग) विवाह अभी हुआ नहीं, किंतु गणेशपूजन करानेमें 'भाविक अलङ्कार' है—(वीरकवि) (घ) विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'यहाँपर हिंदूधर्मके गूढ़ रहस्यके कुछ दिग्दर्शन करनेकी आवश्यकता है, सो यों कि भक्तजन अपनी-अपनी रुचिके अनुसार विशेष गुणसम्पन्न देवताको इष्ट मानकर उसका पूजन सर्वोपरि बतलाते हैं। परंतु यथार्थमें ये सब उसी परब्रह्म परमात्माके उपासक हैं—तुलसीदासजीने तो सर्वरूपरूपी, सर्वशरीर-शरीरी, सर्वनाम-नामी रामहीको जानकर समस्त नामोंसे रामहीको वन्दन किया है—जैसा लिखा है *'सीय राममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥'* क्योंकि इन्होंने श्रीरामहीको परमात्मारूप सिद्ध किया है, यथा—*'राम सो परमात्मा भवानी……।'* श्रीगणेशजीकी प्रथम वन्दना तथा उनका प्रथम पूजन इस आधुनिक प्रथाको गोस्वामीजीने कितनी उत्तम रीतिसे निबाहा है कि ग्रन्थके आदिमें वन्दना भी की तथा उन्हें राममय और रामहीके कारण पूज्यपद प्राप्त हुए कह गये और सबसे बड़े महादेवजी और पार्वतीजी जिनकी ये संतान पुराणोंमें कहे गये हैं, उन्हींके विवाहमें उनका पूजन करवाकर उन्हें अनादि कहकर दर्शाया है कि ये भी परमात्मारूप पूजनीय हैं। पुराणोंमें दो पीठ प्रसिद्ध हैं—एक विष्णुपीठ जिसमें विष्वक्सेन प्रथमपूज्य हैं और दूसरा रुद्रपीठ जिसमें गणेश प्रथमपूज्य हैं। बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि पाखण्डधर्मके बढ़नेपर श्रीशङ्करजीने शङ्कराचार्यरूपसे अवतार लेकर समस्त पाखण्डियोंको परास्त किया और वैदिकधर्म स्थापन किया। सम्पूर्ण पण्डित इन्हींके अनुयायी हो गये और तभीसे बहुधा लोगोंकी रुचि विष्णुपीठकी अपेक्षा रुद्रपीठपर हुई। तभीसे समस्त मङ्गलकार्योंमें गणेशजीका प्रथम पूजन होने लगा। प्राचीन ग्रन्थोंमें ऐसा नहीं किया गया है।'

जसि बिबाह कै बिधि श्रुति गाई। महामुनिन्ह सो सब करवाई॥ १॥
गहि गिरीस कुस कन्या पानी। भवहि समरपीं जानि भवानी॥ २॥
पानिग्रहन जब कीन्ह महेसा। हिय हरषे तब सकल सुरेसा॥ ३॥
बेदमंत्र मुनिबर उच्चरहीं। जय जय जय संकर सुर करहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—**गहि**=ग्रहण करके, लेकर, पकड़कर। **पानी** (पाणि)=हाथ=जल। ***सुरेस*** (सुरेश)-दिक्पाल। सब दिग्पाल अपनी-अपनी सेनाके ईश हैं; यथा—***'निज निज सेन सहित बिलगाने।'*** **कुस** (कुश)=कासकी-सी एक घास होती है जो नुकीली, तीखी और कड़ी होती है। कुश बहुत पवित्र माना जाता है। यज्ञ, विवाह, तर्पण आदि कर्मकाण्डोंमें और आसनके काममें इसका उपयोग होता है। कुश और जल हाथमें लेकर संकल्प पढ़ा और किया जाता है। वेदमन्त्र—अर्थात् स्वस्तिवाचन इत्यादि।

अर्थ—श्रुतियोंमें विवाहकी विधि जैसी कुछ कही गयी है, महामुनियोंने वह सब करवायी॥ १॥ हिमाचलने हाथमें कुश, जल और कन्याका हाथ लेकर उन्हें भवानी (भवपत्नी) जानकर भव (शिवजी) को समर्पण किया॥ २॥ जब महादेवजीने पाणिग्रहण किया तब सभी दिग्पाल, देवता हृदयमें बड़े प्रसन्न हुए॥ ३॥ श्रेष्ठ-श्रेष्ठ मुनि वेदमन्त्रोंको उच्चारण कर रहे हैं, और देवता ***'जय जय जय संकर'*** अर्थात् शंकरजीका जय जयकार करते हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'जसि बिबाह कै बिधि……'*** इति। (क) यहाँ लोकरीति नहीं कहते, इससे पाया गया कि लोकरीति देवताओंमें नहीं है, मनुष्योंमें है; यथा—***'करि लोक बेद बिधानु कन्यादान नृपभूषन किये।'*** (३२४) (ख) एक चौपाईमें (दो चरणोंमें) सब विवाहकी विधि करना कहा, एकमें कन्यादान करना कहा। दो चौपाइयोंमें (चार चरणोंमें) विवाहभर वर्णन कर दिया। महादेव-पार्वतीविवाह बहुत संक्षेपसे गोसाईंजीने कहा, क्योंकि आगे श्रीरामविवाह विस्तारसे कहेंगे। ☞ ग्रन्थकारकी रीति है कि जो प्रसंग एक जगह विस्तारसे कहा है उसे दूसरी जगह संक्षेपसे कहते हैं, और जो संक्षेपसे कहते हैं उसे दूसरी जगह विस्तारसे कहते हैं।

नोट—१ मिलान कीजिये—***'बिप्र बेदधुनि करहिं सुभासिष कहि कहि। गान निसान सुमन झरि अवसर लहि लहि॥ बरु दुलहिनिहि बिलोकि सकल मन रहसहिं। साखोच्चार समय सब सुरमुनि बिहँसहिं॥ लोक बेद बिधि कीन्ह लीन्ह जल कुस कर। कन्यादान संकलप कीन्ह धरनीधर॥ पूजे कुलगुरु देव कलसु सिल सुभ धरी। लावा होम बिधान बहुरि भाँवरि परी। बंदन बंदि ग्रंथिबिधि करि ध्रुव देखेउ। भा बिबाह सब कहहिं जनमफल पेखेउ॥*** (पार्वतीमंगल ७८—८०)

टिप्पणी—२ ***'गहि गिरीस कुस कन्या पानी।……'*** इति। ***'पानी'*** शब्द यहाँ श्लेषार्थक है, हाथ और जल दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। (यह शब्द ***'गिरीस'***, ***'कुस'*** और ***'कन्या'*** तीनोंके साथ अर्थ करनेमें लिया जायगा। इसीसे सबके अन्तमें दिया गया) ***'जानि भवानी'*** क्योंकि नारदजीसे सुन चुकी हैं कि ये ***'सदा संभु अरधंग निवासिनि'*** हैं। [भवपत्नी जानते हैं, अत: उनकी वस्तु (अमानत, धरोहर) जानकर उनकी अमानत उनको समर्पित की, सौंप दी। यथा—**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्।'** अर्थात् यह सदासे आपकी हैं, अत: मैं आपकी इस वस्तुको आपको ही समर्पण करता हूँ, आप इसे लीजिये। अपनी जानकर देते तो 'दान' करना कहते। पंजाबीजी लिखते हैं कि हिमाचलने विचारा कि ये ईश्वरी हैं, हमको कृतार्थ करनेके लिये कुछ दिनोंके लिये हमारे यहाँ आ गयी थीं, अब पुन: उनको प्राप्त हुईं, मैं कौन हूँ जो दानका अभिमानी बनूँ।]

नोट—२ स्कं० पु० में समर्पण इस प्रकार है—**'इमां कन्यां तुभ्यमहं ददामि परमेश्वर। भार्यार्थं प्रतिगृह्णीष्व'** अर्थात् हे परमेश्वर! मैं अपनी यह कन्या आपको धर्मपत्नी बनानेके लिये समर्पित करता हूँ; कृपया स्वीकार करें (स्कं० मा० के०)। ☞ अब पाठक स्वयं देख लें कि गोस्वामीजीके शब्द व्यासजीके शब्दोंसे कितने अधिक भावात्मक और उत्कृष्ट हैं।

नोट—३ यहाँ विवाह बहुत संक्षेपसे कहा है, इसीसे मेनाजीका आना नहीं कहा। ***'जस बिबाह कै बिधि श्रुति गाई। महामुनिन्ह सो सब करवाई॥'*** इसीके भीतर मेनाजीका आगमन कह दिया गया; क्योंकि वेदमें स्त्रीसहित कन्यादान करनेकी विधि है। आगे श्रीराम-विवाहमें मेनासहित हिमाचलका कन्यादान करना

कहा है। यथा—*'जनक बाम दिसि सोह सुनयना। हिमगिरि संग बनी जनु मयना॥'* (३२४। ४) स्कंद पु० माहेश्वर केदारखण्डमें भी लिखा है कि 'गर्गाचार्यजी (हिमाचलके पुरोहित) के आदेशसे हिमाचल अपनी पत्नी मेनाके साथ कन्यादान करनेको उद्यत हुए। मेना सोनेका कलश लेकर उनकी अर्धाङ्गिनी बनी हुई थीं। परम सौभाग्यवती मेना समस्त आभूषणोंसे विभूषित होकर हिमवान्‌के साथ बैठी थीं।'

नोट—४ प्रथम सब बिधि कराके पीछे कन्यादान करना लिखा। इससे पाया गया कि देवताओंमें ऐसी ही रीति है, सब कृत्य करके तब कन्यादान होता है और मनुष्योंमें प्रथम कन्यादान होकर तब पीछे सब कृत्य होते हैं। (पं० रा० कु०)

नोट—५ भवानीको भवके अर्पण करना कहकर यथायोग्यका संग वर्णन किया यह 'प्रथम सम अलङ्कार' है।

टिप्पणी—३ *'पानिग्रहन जब कीन्ह'''''* 'इति। (क) पाणि गहकर शिवको समर्पण किया। जब शिवजीने पाणिग्रहण किया तब सब सुरेश हर्षित हुए कि अब सुरोंकी रक्षा होगी, तारकासुर मारा जायगा। (ख) *'जब'* का भाव कि पाणिग्रहणतक देवताओंको संदेह था कि ब्याह करें या न करें। उसके हो जानेपर संदेह न रह गया, अतः *'हरषे'*। (ग) देवता स्वार्थमें जड़ हो जाते हैं; यथा—*'बिबुध बिनय सुनि देवि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड़ जानी॥'* (अ०) यहाँ भी वे स्वार्थवश जड़ हो गये हैं, यह नहीं जानते कि शिवजी भगवान्‌की और ब्रह्माकी आज्ञासे बारात लेकर ब्याह करने आये हैं विवाह कैसे न करेंगे? [पंजाबीजी लिखते हैं कि 'पूर्व सतीशरीरमें अवज्ञा और शंकरजीका वैराग्य विचारकर संयोगमें संदेह था।' त्रिपाठीजी लिखते हैं—'पाणिग्रहणके पहिलेतक डर रहा कि बात बिगड़ने न पावे। परम विरक्तका ब्याह है। इन्हें राजी करनेमें क्या-क्या नहीं करना पड़ा। सब कुछ ठीक होनेपर मैना ही मचल पड़ीं कि चाहे प्राण जाय ब्याह न होने दूँगी। लोकपालोंको आर्तिवश विश्वास नहीं हो रहा है। *'अँधेरेको आँख मिले तब जाने।'* वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। अतः पाणिग्रहण होनेपर ही विश्वास हुआ।']

टिप्पणी—४ *'बेदमंत्र मुनिबर उच्चरहीं।'''''* 'इति। (क) मुनि कृत्य करवा रहे हैं, अतः वेदमन्त्र उच्चारण करते हैं। देवता अपनी अर्थसिद्धि समझकर हर्षित हुए, इसीसे जय-जय करते हैं कि आप सबसे उत्कृष्ट हैं। पाणिग्रहण करके सबका कल्याण किया, इसीसे 'शंकर' कहा। (ख) पाणिग्रहणके पश्चात् जयध्वनि-वेदध्वनि होती है, सुमनवृष्टि होती है, बाजे बजते हैं; यथा—*'जय धुनि बंदी बेद धुनि मंगल गान निसान। सुनि हरषहिं बरषहिं बिबुध सुरतरु सुमन सुजान॥'* (३२४) वही यहाँ लिखते हैं—*'बेद मंत्र', 'सुमन बृष्टि भै बिधि नाना'* [*'जय-जय'* में 'वीप्सा अलङ्कार' है।—*'आदर अचरज आदि हित एक शब्द बहु बार। ताही बिप्सा कहत हैं जे सुबुद्धि भंडार॥'* महानुभावोंने और भाव ये कहे हैं—१ तीन बार जयसे तीनों लोकोंमें वा आदि मध्य अन्त सर्वदा, वा मन वचन कर्म तीनोंसे जय सूचित की। २—'तीनों अवस्थासे जयरूप जो तुरीयस्वरूप शिवजी हैं, उनकी जय हो'—(पंजाबीजी)]।

टिप्पणी—५ पाणिग्रहण—विवाहमें कन्यादानके समय कन्याका हाथ वरके हाथमें दिया जाता है; इसीको 'पाणिग्रहण' कहते हैं। उस समयसे कन्या वरकी स्त्री हो जाती है। पाणिग्रहणके समय वरको वचन देना होता है कि हम इसके अपराध क्षमा करेंगे। पर यहाँ कन्यादान नहीं है, यहाँ समर्पण है, हाथ-में-हाथ पकड़ाकर सौंप दिया, वचनबद्धकी बात यहाँ नहीं है। इसीसे आगे मेनाजीने शिवजीसे प्रार्थना की है कि *'नाथ उमा मम प्रानप्रिय गृह किंकरी करेहु। छमेहु सकल अपराध अब होइ प्रसन्न बर देहु॥'*

बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना। सुमन बृष्टि नभ भै बिधि नाना॥ ५॥
हर गिरिजा कर भएउ बिबाहू। सकल भुवन भरि रहा उछाहू॥ ६॥
दासी दास तुरग रथ नागा। धेनु बसन मनि बस्तु बिभागा॥ ७॥
अन्न कनक भाजन भरि जाना। दाइज दीन्ह न जाइ बखाना॥ ८॥

शब्दार्थ—**बिधाना**=प्रकार, रीति, ढंग। **बृष्टि**=झड़ी। **उछाहू**=उत्साह। **जाना** (यान)=विमान, रथ, सवारी। **दाइज**=दाइजा, दहेज, वह धन और सामान जो कन्यापक्षकी ओरसे वर-पक्षको दिया जाय (प्राय: जो कन्याका पिता वर वा समधीको देता है)।

अर्थ—अनेक प्रकारके बाजे तरह-तरहसे बजने लगे, आकाशसे अनेक प्रकारसे भाँति-भाँतिके फूलोंकी वर्षा (झड़ी) होने लगी॥ ५॥ श्रीशिव-पार्वतीजीका ब्याह हो गया। समस्त लोकोंमें उत्साह आनन्द भरपूर छा गया*॥ ६॥ दासी, दास, घोड़े, रथ हाथी, गायें, वस्त्र और मणि आदि अनेक जातिकी न्यारी-न्यारी सब वस्तुएँ ॥ ७॥ अन्न और सोनेके बर्तन रथों, विमानों आदि सवारियोंमें भर-भरकर दहेजमें दिये गये, जिनका वर्णन नहीं हो सकता॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'बाजहिं बाजन……'*** इति। बाजे बहुत प्रकारके होते हैं और तरह-तरहसे बजते हैं; यथा—***'झाँझि मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल दुंदुभी सुहाई॥ बाजहिं बहु बाजने सुहाए।'*** (१। २६३), ***'सरस राग बाजहिं सहनाई॥ घंटघंटि धुनि बरनि न जाहीं।'*** (१। ३०२) ***(ख) 'सुमन बृष्टि नभ भै बिधि नाना'***, यथा—***'बरषहिं सुमन सुअंजलि साजी'***, ***'बरषहिं सुमन रंग बहु माला'***, ***'सुरतरु सुमनमाल सुर बरषहिं'***, ***'देवन्ह सुमन बृष्टि झरि लाई'।*** यही नाना विधिसे वृष्टि हुई, कोई छूट्टे फूल तो कोई मालाएँ और कोई सुन्दर अञ्जलि सजाकर इत्यादि रीतिसे पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं। (ग) (यहाँ विवाहमें सेंदूरदान, कोहबर, भाँवरी इत्यादि कई रीतियोंका होना वर्णन नहीं हुआ। इसका कारण यह जान पड़ता है कि देव-विवाहमें ये रीतियाँ नहीं हैं, केवल पाणिग्रहण ही पर्याप्त है।) (घ) ☞ यहाँ देवताओंके मन, वचन, कर्म तीनोंका हाल कहा, तीनोंसे उनकी प्रसन्नता दिखायी। ***'हिय हरषे तब सकल सुरेसा'*** (हर्ष मनका धर्म है), ***'जय जय जय संकर'*** यह वचन है और तनसे फूलोंकी वर्षा की।

टिप्पणी—२ (क) ***'हर गिरिजा कर……'*** इति। जगत् प्रकृतिपुरुषमय है, प्रकृतिपुरुषके उत्साहसे भुवनभरमें उत्साह भर गया, अर्थात् भुवनभरके सभी लोग उत्साहयुक्त हुए। मुनि लोगोंने उत्साह गाया, इसीसे भुवनमें फैल गया, सभी कोई कह-सुनकर उत्साहयुक्त होते हैं। ***'भरि रहा'*** का भाव कि उत्साह अब कभी जा न सकेगा। [तृतीयविशेष अलङ्कार है—(वीरकवि)] पुन:, हर और गिरिजा नाम यहाँ देव-दु:ख-हरणके विचारसे दिये। हर दु:ख हरनेवाले और गिरिजा परोपकारिणी। (ख) ***'दासी दास तुरग……'*** इति। दासी-दास सेवाके लिये, घोड़े, रथ, गज चढ़नेके लिये, धेनु दूध पीनेके लिये, वस्त्र और मणि पहिननेके लिये दिये। ***'बस्तु बिभागा'*** का भाव कि सब वस्तुएँ न्यारी-न्यारी दीं। अर्थात् प्रत्येक वस्तु कई-कई प्रकारकी हैं इसीसे वस्तुका विभाग कहा। यथा—***'बस्तु अनेक करिअ किमि लेखा। कहि न जाइ जानहिं जिन्ह देखा॥'*** ☞ ***'दासी'*** अर्थात् जो श्रीपार्वतीजीकी 'शुचि' सेविकाएँ थीं; यथा—***'दासी दास दिये बहुतेरे। सुचि सेवक जे प्रिय सिय केरे॥'*** (३३९। २)। ***'दाइज बसन मनि धेनु धन हय गय सुसेवक सेवकी। दीन्ही मुदित गिरिराज जो गिरिजहि पियारी पेवकी॥'*** (पा० मं० ८१) 'रथ' को 'तुरग' और 'नागा' के बीच देहरीदीपकन्यायसे रखकर सूचित करते हैं कि घोड़े और हाथी जुते हुए रथ दिये एवं घोड़े-हाथी अलग-अलग भी दिये गये। त्रिपाठीजीका मत है कि 'चतुरङ्गिणी सेना और वस्तु विभाग दिये। दासी-दाससे पदाति कहा। तुरग, रथ, नागसे शेष तीनों अङ्ग कहे। और भी तीन विभाग दिये—धेनुविभाग, वसनविभाग और मणिविभाग।']

टिप्पणी—३ ***'अन्न कनक भाजन भरि……'*** इति। अन्न भोजनके लिये और कनकभाजन नित्य भोजनादिके काममें लानेके लिये दिये। [पुन:, अन्न दहेजमें दिया, क्योंकि इनको वनमें अन्नकी प्राप्ति नहीं है, यथा—***अब सुख सोवत सोच नहिं भीख माँगि भय खाहिं। सहज एकाकिन्ह कें भवन कबहुँ कि नारि खटाहिं॥'*** (७९)। नहीं तो लोग दहेजमें अन्न नहीं देते, यथा—***'कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनक मनि मंडप पूरी॥***

* यथा—'पेखेउ जनमफल भा विवाह उछाह उमगहि दस दिसा। निसान गान प्रसून झरि तुलसी सुहावनि सो निसा॥' (पार्वतीमङ्गल ८१)

कंबल बसन बिचित्र पटोरे। भाँति भाँति बहु मोल न थोरे॥ गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत काम दुहासी॥' (३२६। २—४) पुनश्च *'तुरग लाख रथ सहस पचीसा। सकल सँवारे नख अरु सीसा॥ मत्त सहस दस सिंधुर साजे। जिन्हहिं देखि दिसि कुंजर लाजे॥ कनक बसन मनि भरि भरि जाना। महिषी धेनु बस्तु बिधि नाना॥ दाइज अमित न सकिय कहि दीन्ह बिदेह बहोरि॥'* (३३३) यह भाव कई महानुभावोंने 'अन्न और पात्र देनेके' लिखे हैं, माधुर्यमें यह ठीक भी हो सकता है, नहीं तो शिवजी तथा पार्वतीजीकी महिमा अभी-अभी नारदादिसे सुन-जानकर यह भाव कहाँ रह सकता है कि घरमें लड़कीको अन्न खानेको न मिलेगा। बरतन तो आज भी दिये जानेकी रीति है।] चीजें अगणित हैं, कहाँतक लिखें (और आगे श्रीसीताराम-विवाहमें विस्तारसे लिखना भी है) इसीसे कुछके नाम गिनाकर लिखते हैं कि *'न जाइ बखाना।'* अर्थात् अमित है। इतनेहीमें सब कह चुके, कुछ बाकी न रह गया।

छंद—दाइज दियो बहु भाँति पुनि कर जोरि हिमभूधर कह्यो।
का देउँ पूरनकाम संकर चरनपंकज गहि रह्यो॥
शिव कृपासागर ससुर कर संतोषु सब भाँतिहि कियो।
पुनि गहे पदपाथोज मयना प्रेम परिपूरन हियो॥

दो०—नाथ उमा मम प्रान सम* गृहकिंकरी करेहु।
क्षमेहु सकल अपराध अब होइ प्रसन्न बरु देहु॥१०१॥

शब्दार्थ—**पूरनकाम** (पूर्णकाम)=निष्काम, जिसकी सब कामनाएँ पूर्ण हैं, किसी बातकी चाह जीमें नहीं रह गयी है; आप्तकाम, सदातृप्त।=दूसरोंकी इच्छा पूर्ण करनेवाले। **ससुर** (श्वशुर)=पत्नीका पिता। **संतोषु**=समाधान, सम्मान।

अर्थ—हिमाचलने बहुत प्रकारका दहेज दिया। फिर हाथ जोड़कर कहा—'हे शङ्कर! आप तो पूर्णकाम हैं, सबके कल्याणकर्ता हैं, मैं आपको क्या दे सकता हूँ?' (इतना कहकर वे) उनके चरण-कमलोंको पकड़कर रह गये (चरण छोड़नेकी इच्छा नहीं करते)। कृपासिंधु शिवजीने सब प्रकारसे ससुरका सम्मान किया। फिर (हिमाचलके छोड़नेपर) श्रीमेनाजीने (शिवजीके) चरणकमल पकड़े। (उनका) हृदय प्रेमसे परिपूर्ण है। (मेनाजी बोलीं—) हे नाथ! उमा मुझे प्राणोंके समान (प्रिय) है। इसे अपने घरकी टहलनी बनाइयेगा। अब इसके सब अपराधोंको क्षमा कीजियेगा। प्रसन्न होकर मुझे अब (यही) वरदान दीजिये॥१०१॥

नोट—१ *'दाइज दियो बहु भाँति'* इति। कुछ छंदोंका नियम है कि वे पूर्व कहे हुए कुछ शब्दोंको प्रारम्भमें दोहराते हैं। पूर्व कहा है कि *'दाइज दीन्ह न जाइ बखाना।'* उसीसे यहाँ छंदका प्रारम्भ किया—*'दाइज दियो बहु भाँति।'* अर्थात् दहेज जो पूर्व लिख आये हैं वह बहुत भाँतिका है। यदि इसको स्वतन्त्र वाक्य मानें तो भाव यह होगा कि दहेज बहुत भाँतिका दिया गया, हमने उसमेंसे कुछ भाँतिका कहा है; वह तो इतनी भाँतिका है कि गिनाया नहीं जा सकता। भाव कि वस्तुएँ अनेक हैं और प्रत्येक वस्तु अनेक प्रकारकी हैं।

नोट—२ (क) *'कर जोरि'* इति। यह विनम्रता दीनताकी परमा मुद्रा है। पुनः भाव कि दान करके विनय करना सम्मान है, विनययुक्त दान आदरका दान है। दान करके विनय न करना अभिमानका सूचक है। (ख) *'चरनपंकज गहि रह्यो'* इति। चरण पकड़के रह जाना, यह अत्यन्त दीनता, व्याकुलता और प्रेम-विभोरताका सूचक है। और मेनाजी प्रेमविभोर हैं, इससे वे प्रथमसे ही चरणोंपर गिरीं।

टिप्पणी—१ (क) *'शिव कृपासागर······'* का भाव कि ज्यों ही हिमाचल प्रार्थना करके चरणोंपर

---

* सम—१६६१, ना० प्र०, गौड़जी। प्रिय—१७२१, १७६२, भा० दा०, को० रा०, छ०, रा० प्र०।

गिरे त्यों ही शिवजीने उनपर बड़ी भारी कृपा की। (ख) *'का देउँ पूरनकाम'* से जनाया कि हिमाचलको दहेज देनेमें संतोष नहीं हुआ, इसीसे शिवजीने उनका संतोष किया कि 'आपने हमें बहुत दिया' (ग) *'संतोषु सब भाँतिहिं कियो'* अर्थात् उनके दहेजकी, दानकी, सेवाकी और उनकी भक्ति इत्यादि सभी बातोंकी प्रशंसा की। (घ) *'पुनि गहे पदपाथोज मयना……'* इति। सास और ससुर दोनोंका शिवजीमें और शिवजीका सास-ससुरमें समान प्रेम है; इसीसे ग्रन्थकार समान भाव गान कर रहे हैं—(१) दोनोंका 'शिवचरण गहना' कहा। (२) दोनोंके साथ चरणोंको कमलका विशेषण दिया। इस तरह शिवपदकमलमें दोनोंका मधुकर समान प्रेम दिखाया। (३) सास-ससुर दोनोंके नाम दिये। (४) ससुरका दहेज देकर और सासका उमाको सौंपकर प्रार्थना करना दिखाया। (५) दोनोंका शिवजीमें ईश्वरभाव दिखाया। (६) शिवजीका दोनोंमें माधुर्यभाव रखकर दोनोंको संतोष देना कहा। यथा—

श्रीहिमाचलराज	श्रीमेनाजी
का देउँ……चरनपंकज २ गहि १ रहे	**पुनि गहे १ पदपाथोज २ मैना**
पुनि कर जोरि हिमभूधर ३ कह्यो	**,, मैना ३**
का ४ देउँ पूरनकाम ५ संकर	**नाथ ५ उमा मम ४ प्रानसम गृहकिंकरी……**
ससुर कर संतोष ६ सब ७ भाँतिहिं कियो	**बहुबिधि ७ संभु सासु समुझाई ६**

☞ मेनाजीने उमाके अपराध क्षमा करनेकी प्रार्थना की, इसीसे उनको समझाया कि 'हमने सब अपराध क्षमा किये तथा आगे भी क्षमा करते रहेंगे, (मनुष्योंके विवाहमें अपराध क्षमा करनेकी प्रतिज्ञा कन्यादानके समय होती ही है)—इसे गृहकिङ्करी बनायेंगे, आप निश्शङ्क रहें।' हिमाचलने दहेज देकर प्रार्थना की कि *'का देउँ……'*, इसीसे उनका संतोष करना कहा, इस तरह कि हमने बहुत कुछ पाया।

टिप्पणी—२ *'नाथ उमा मम……'* इति। (क) वर माँगती हैं अत: *'नाथ'* सम्बोधन किया—*'नाथृ याचने'*। (ख) नारदजीसे सुन चुकी हैं कि *'सिय बेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरी'*। इसीके लिये प्रार्थना करती हैं कि *'छमेहु सकल अपराध अब।'* (ग) *'सकल अपराध'*, यथा—*'भएउ मोह शिव कहा न कीन्हा'* (१), *'भ्रमबस बेष सीय कर लीन्हा'* (२), *'मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना'* (३), *'पुनि पतिबचन मृषा करि माना'* (४), *'प्रेरि सतिहिं जेहि झूठ कहावा'* (५) (घ) माताका स्नेह कन्यापर अधिक रहता है, इसीसे माताने कन्याके लिये प्रार्थना करके वर माँगा।

नोट—३ *'छमेहु सकल अपराध अब'* इति। यहाँ पूर्वार्धमें *'नाथ उमा मम प्रान सम……'* यह कन्याके लिये प्रार्थना है ओर उत्तरार्धमें *'छमेहु'* के साथ *'सकल'* और *'अब'* शब्द देकर यही आशय प्रकट किया है कि पूर्व इसके अपराध आपने क्षमा नहीं किये थे (यह 'असुन्दर व्यंग्य' है)। इसीसे इसको इतना संकट भोगना पड़ा, 'अब' इसके समस्त अपराध जो पूर्व इससे हुए थे तथा जो आगे इससे हो जायँ उन सबोंको क्षमा कर दीजिये और करते रहियेगा। *'मम प्रान सम'* कहकर यह भी जनाया कि इसको दु:ख होनेसे मुझे अत्यन्त दु:ख होगा, अत: मेरी खातिर इसके अपराध क्षमा करते रहियेगा।—यह तो हुआ प्रसंगानुकूल अर्थ। और, साधारण अर्थ यह है कि जो अपराध इससे हो जायँ उन्हें क्षमा कीजियेगा जैसा कि प्राय: कहनेकी रीति है। कोई-कोई *'छमेहु सकल अपराध'* को मेनाजीमें ही लगाते हैं। अर्थात् मेनाजी कहती हैं कि मुझसे जो अपराध हुए कि मैं आपको देखकर घरमें भागकर जा घुसी थी और आपको तथा औरोंको भी बुरा-भला कह डाला था, उन्हें क्षमा कीजिये।

टिप्पणी—३ *'गृहकिंकरी करेहु'* और *'छमेहु सकल अपराध'* यह लोकोक्ति है, साधारण बोलचाल है—सदा मुझे अपना दास समझियेगा, सब अपराध क्षमा कीजियेगा; इत्यादि। पर इनमें व्यंग्यसे कुछ विशेष भाव भी निकलते हैं। जैसे कि—श्रीनारदजी और सप्तर्षियोंने शिवजीको *'अगेह', 'अकुल अगेह दिगंबर'* कहा था। मेनाजीके वचनोंसे व्यंग्यद्वारा यह भाव टपकता है कि अब तो इसके लिये घर बनाकर रहना

और इसको टहलनी कर देना। यह असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य है। बैजनाथजी यह भाव कहते हैं कि घरहीमें सेवा कराना, अब अकेले न छोड़ना। बेमर्याद यह बाहर न जाने पावे क्योंकि सतीको अकेले न छोड़ते तो वे क्यों सीतावेष धारण करतीं।

टिप्पणी—४ यहाँ मेनाजी मन, वचन और तन तीनोंसे लगी हुई विनती कर रही हैं। *'प्रेमपरिपूरन हियो'* से मन, *'गहि पद'* से तन और *'नाथ उमा मम प्रान सम'* से वचनकी दशा प्रकट है।

☞ यहाँ विवाह-प्रसंगमें कहीं भी मेनाजीका शृङ्गार वर्णन नहीं किया गया। इसलिये कि कन्यादानके समय हिमाचलके साथ रही हैं और इनका शृङ्गार भी वैसा ही था जैसा श्रीसुनयनाजीका—यह श्रीसुनयनाअम्बाके शृङ्गारके समय कहा है—*'सुजस सुकृत सुख सुंदरताई। सब समेटि बिधि रची बनाई॥''''''जनक बाम दिसि सोह सुनयना। हिमगिरि संग बनी जनु मैना॥'* (३२३)—आगे वर्णन करना था, अतः यहाँ वर्णन नहीं किया।

नोट—४ मिलान कीजिये—*'गहि सिव पद कह सासु बिनय मृदु मानबि। गौरि सजीवनिमूरि मोरि जिय जानबि॥'* (८६) (पार्वतीमंगल)

बहु बिधि संभु सासु समुझाई। गवनीं भवन चरन सिरु नाई॥ १॥
जननीं उमा बोलि तब लीन्ही। लै उछंग सुंदर सिख दीन्ही॥ २॥
करेहु सदा संकर पद पूजा। नारिधरमु पति देउ न दूजा॥ ३॥
बचन कहत भरे* लोचन बारी। बहुरि लाइ उर लीन्हि कुमारी॥ ४॥

शब्दार्थ—**उछंग** (उत्संग)=गोद। यह केवल पद्यमें आता है। **नारिधरमु**=पातिव्रत्य।

अर्थ—शिवजीने बहुत तरहसे सासको समझाया (तब वे) चरणोंमें सिर नवाकर घरको गयीं॥ १॥ तब (लौटनेपर) माताने उमाको बुला लिया और गोदमें लेकर सुन्दर शिक्षा दी॥ २॥ 'सदा शिवजीके चरणोंकी सेवा-पूजा करती रहना। स्त्रियोंके धर्ममें पति ही (उनका) देवता है, (पतिको छोड़) और कोई (देवता) नहीं है॥ ३॥ वचन कहते-कहते नेत्रोंमें जल भर आया, (तब उन्होंने) फिर कन्याको छातीसे लगा लिया॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'बहु बिधि समुझाई'*, यह कि (१)—अपराध क्षमा करेंगे, (२)—गृह किंकरी बनायेंगे। (३)—*'नाथ उमा मम प्रान सम'* जो मेनाने कहा था उसके उत्तरमें कहा कि इनको किञ्चित् भी क्लेश नहीं होगा, तुम्हें ये प्राण सम प्रिय हैं तो हमारी भी ये प्राणप्रिया हैं। उमाके प्रेममें माता विह्वल हैं, इसीसे *'बहु बिधि'* समझाया।

नोट—१ बाबा हरिदासजी *'बहु बिधि'* में पाँच विधिसे समझाना लिखते हैं। एक यह कि सती नाम पतिवियोगिनीका है, इसलिये अमङ्गल है और मेरा नाम शिव है जो माङ्गलिक है। इसी परस्पर विरोध होनेके कारण उस समय वियोग हुआ। दूसरी यह कि इन्होंने उस समय माता श्रीसीताजीका रूप धारण किया था, यदि हम भक्तिपथका त्याग करते तो जगत्‌भर भ्रष्ट मार्ग धारण कर लेता; इसलिये सतीको त्यागना पड़ा। तीसरी यह कि ब्रह्माकी सभामें दक्षके नाश होनेके लिये नन्दीका शाप हुआ था, बिना हमसे वियोग हुए दक्षका नाश कैसे होता? अतः वियोग हुआ। चौथी यह कि तुम दोनों स्त्री-पुरुषने आदि शक्तिको पुत्रिरूपमें पानेके लिये बड़ा तप किया था, उसकी पूर्ति बिना सतीतन-त्यागके नहीं होती, इसीसे वियोग हुआ। पाँचवीं यह कि शैल परोपकारी हैं। गङ्गा आदि इसीसे निकलकर जगत्‌के पाप हरती हैं। अतः जगत्‌का उपकार करनेके लिये ये शैलसुता हुई हैं, आगे रामकथाकी श्रोता बनकर जगत्‌का उपकार करेंगी। २-पं० शुकदेवलालजी *'बहु बिधि'* समझाना यह लिखते हैं कि 'अपने भाग्यको धन्य मानो कि तुम्हारे यहाँ सब देवताओंने आकर तुमको दर्शन दिया। हम पार्वतीपर कदापि रुष्ट नहीं होनेके,

* भरि—१७०४, को० रा०। भरे—१६६१, १७२१, १७६२।

तुम चिन्ता न करो। हमारा जो वेष तुम देखती हो वह तो हम केवल असुरोंको मोहित करनेके लिये भगवान्की आज्ञासे बनाये रहते हैं, यह हमारा वास्तविक रूप नहीं है—इत्यादि।' ३—जो *'छमेहु सकल अपराध अब'* को मेनामें लगाते हैं उनके अनुसार भाव यह होगा कि हमारा वेष ही ऐसा है कि साधारण लोग इसे देखकर डर जाते हैं, आप जो डरकर भाग गयी थीं, वह स्वाभाविक बात है, उसमें आपका दोष क्या? हम तो उसको कभी मनमें नहीं लाये।

टिप्पणी—२ (क) *'गवनीं भवन'* से जनाया कि महलके बाहर निकल आयी थीं। समझानेसे प्रसन्न हुईं। तब प्रणाम करके भवनको गयीं। उमाजीको पातिव्रत्य धर्मकी शिक्षा देनेके लिये शीघ्रतासे गयीं। (ख) *'जननीं उमा बोलि'* इति। शिवजीसे उमाजीके लिये प्रार्थना की, अब उमाको शिवसेवाका सिखावन देती हैं। (ग) *'लै उछंग……'* गोदमें बैठाया, यह स्नेहका आधिक्य है, यथा—*'अधिक सनेह गोद बैठारी।'* (घ)*'संकर पद पूजा'* का भाव कि कल्याणकर्ताके पूजनसे तुम्हारा कल्याण है। (ङ) *'नारि धरम……।'* पतिपदकी पूजा सदा करना यह कहकर उसका कारण उत्तरार्धमें बताती हैं कि स्त्रीको पतिदेव छोड़ दूसरा धर्म नहीं है। *'एकै धरम एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा॥'* (आ०) [भाव यह कि उसका मुख्य धर्म यही है कि पतिहीको एकमात्र अपना उपास्य और आराध्य देव माने। पर यह स्मरण रहे कि भगवान्की भक्ति स्त्रियोंको भी कही गयी है। भगवान्का आराधन परम धर्म, ऐसा न होता तो गोपिकाओंके प्रेमकी प्रशंसा नारदजी भक्तिसूत्रमें न करते, श्रीपार्वतीजी रामनाम न जपतीं, वामदेवजीसे वैष्णवदीक्षा न लेतीं। श्रीमीराजी, रत्नावतीजी, कुन्तीजी, द्रौपदीजी, करमैतीजी इत्यादि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।]

टिप्पणी—३*'बचन कहत भरे……'* इति। सिखावन दे चुकीं, अब वचन कहती हैं। पहिले गोदमें लिये रहीं, अब अत्यन्त स्नेहवश होकर कुमारी वा पुत्रीभावसे उरमें लगा लिया, ऐश्वर्य भूल गया जो नारदसे सुना था। दुःखकी बात जब कहने लगीं तब नेत्रोंमें जल भर आया। [☞*'लाइ उर लीन्हि'* यह करुणरसकी परिपूर्णता जनाता है। कुछ लोग कहते हैं कि हृदयसे लगाकर जनाती हैं कि तनसे तो वियोग हो रहा है, पर हृदयसे न जाना। (प्र० सं०) श्रीसीताजीकी बिदाईके समय उन्हें शिक्षा दी गयी थी कि *'सास ससुर गुर पूजा करेहू। पतिरुख लखि आयसु अनुसरेहू॥'* पर यहाँ ऐसी शिक्षा नहीं दी गयी, क्योंकि यहाँ तो सास, ससुर और गुरु तीनोंका अभाव है। (वि० त्रि०)]

कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥ ५॥
भै अति प्रेम बिकल महतारी। धीरजु कीन्ह कुसमय बिचारी॥ ६॥
पुनि पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेमु कछु जाइ न बरना॥ ७॥
सब नारिन्ह मिलि भेटि भवानी। जाइ जननि उर पुनि लपटानी॥ ८॥

शब्दार्थ—**कत**=किसलिये, क्यों। सृजना=उत्पन्न करना, रचना। **भेटि**=गले वा छातीसे लगकर मिलना।

अर्थ—जगत्में विधाताने स्त्रियोंको क्यों बनाया? पराधीनको तो स्वप्नमें भी सुख नहीं॥ ५॥ माता प्रेममें अत्यन्त व्याकुल हो गयीं। कुसमय विचारकर उन्होंने धैर्य धारण किया॥ ६॥ बारम्बार मिलती हैं और चरणोंको पकड़कर पैरोंपर गिर पड़ती हैं। अत्यन्त प्रेम है, कुछ वर्णन नहीं किया जाता॥ ७॥ श्रीपार्वतीजी सब स्त्रियोंसे मिल-भेंटकर माताके हृदयसे फिर जा लपटीं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'कत बिधि सृजीं……'* इति। भाव कि स्त्री सदा पराधीन ही रहती है। *'सुख नाहीं'* अर्थात् पराधीनतामें सर्वथा दुःख-ही-दुःख है। ☞ हितोपदेशमें पराधीनको मृतकसमान कहा है; यथा—**'ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति के मृताः।'** स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्रता ही बिगड़ना कहा गया है, यथा—*'जिमि सुतंत्र होइ बिगरहिं नारी'* (कि०) कन्या बालपनेमें माता-पिताके अधीन है, वे जहाँ चाहें ब्याह करें, ब्याहके बाद युवावस्थामें पतिके अधीन है, वह जैसे चाहे तैसे रखे। और वृद्धावस्थामें पुत्रके अधीन है। यह मनुका

वचन है।—**'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। वार्द्धके तु सुतो रक्षेन्न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥'** स्त्री पराधीन रहती है, इस कथनका भाव यह है कि अब पतिके अधीन रहकर पतिकी सेवा करना। [पुनः भाव कि विधिप्रपञ्च गुण और दोष मिलाकर बना है। इसमें सुख भी है और दुःख भी। पर स्त्रियोंको तो स्वप्नमें भी सुख नहीं है। उसको सदा पराधीन रहना पड़ता है। कारण कि स्त्रीमें स्वतन्त्रताकी योग्यता नहीं है। उसके शरीरका संगठन ऐसा है कि उसे सदा रक्षाकी आवश्यकता रहती है स्वतन्त्र रहनेसे बिगड़ जाती है। उमाको विदा कर रही हैं, अतः स्त्रीजातिकी परवशतापर आक्षेप करती हैं। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ (क)*'मैं अति प्रेम·····'* इति। *'कुसमय बिचारी'* अर्थात् रुदन करने या व्याकुल होनेका समय नहीं है। मङ्गल समयमें आँसू न बहाना चाहिये। [पुनः, *'कुसमय'* है अर्थात् दुःखका समय नहीं है, मङ्गलका समय है वा, यह विचारकर कि करुणावश होनेसे समयके व्यापार बिगड़ जायेंगे। कन्या भी दुःखित होगी। (वै०)] (ख)*'पुनि पुनि मिलति·····'* इति। प्रेममें नेम नहीं रह जाता, इसीसे चरणोंमें पड़ती हैं। प्रेम कहते नहीं बनता (अकथनीय है), यथा—*'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥'* ☞ यहाँतक माताका प्रेम पार्वतीप्रति दिखाया। आगे पार्वतीजीका प्रेम माताप्रति दिखाते हैं। (ग) प्रथम उमाको गोदमें बिठाया, फिर हृदयमें लगा लिया, अत्यन्त प्रेममें विकल हो गयीं तब धीरज धरा। अर्थात् उमाको गोदसे उतारकर भेंटने लगीं जब भेंटने लगीं तब पुनः परमप्रेमको प्राप्त हुईं। (घ) पुनः-पुनः मिलती हैं, पुनः-पुनः चरणोंमें पड़ती हैं। चरणोंमें पड़-पड़कर भेंटनेकी विधि नहीं है, इसीपर आगे लिखते हैं कि परम प्रेम है, प्रेमके ही कारण विकल हैं; यथा—*'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥ दिसि अरु बिदिस पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेऊँ कहाँ नहिं बूझा॥'* [(ङ) पुनः, *'मिलति परति'* से दो भाव दरसाये। माधुर्यमें वात्सल्यभावसे मिलती हैं। जब ऐश्वर्य स्मरण हो आता है तब पैरों पड़ने लगती हैं, प्रणाम करती हैं, चरण पकड़ लेती हैं।]

टिप्पणी—३*'सब नारिन्ह मिलि भेटि·····'* इति। (क) *'मिलि' 'भेटि'* दोनोंका एक ही अर्थ है, यहाँ दोनों शब्द लिखनेका तात्पर्य यह है कि सब स्त्रियोंसे दो-दो बार मिलीं। (ख) 'सब' से मिलने-भेंटनेका भाव कि पार्वतीजी सुशीला हैं, सयानी हैं, सबका मान रखती हैं, व्यवहार यथार्थ बरतती हैं; इसीसे सब स्त्रियोंने प्रसन्न होकर आसिष दिया। (ग) मातासे दो बार भेंटीं; प्रथम आदिमें सबसे पहिले और फिर सबसे पीछे अन्तमें, *'पुनि पुनि मिलति०'* और *'जननिहि बहुरि मिलि०'* बीचमें सब स्त्रियोंसे भेंटीं। यह भेंटनेका क्रम है, अतः इसी क्रमसे गुसाईंजीने लिखा। (घ) *'जाइ जननि उर पुनि लपटानी'* से पाया गया कि प्रेममें विभोर हो जाती थीं तब पुनः-पुनः मिलती चरणोंपर पड़ती थीं और पार्वतीजी भी तब माताके उरमें पुनः-पुनः लिपट जाती थीं। पुनः भाव कि माता पुनः-पुनः मिलीं इसीसे पार्वतीजी भी मातासे पुनः-पुनः मिलती हैं।

नोट—मिलान कीजिये। *'भेंटि बिदा करि बहुरि भेंटि पहुँचावहिं। हुँकरि हुँकरि सुलवाइ धेनु जनु धावहिं॥ उमा मातु मुख निरखि नयन जल मोचहिं। नारि जनम जगु जाय सखी कहि सोचहिं।'* (८७) (पार्वतीमंगल)

छंद—जननिहि[१] बहुरि मिलि[२] चलीं उचित असीस सब काहूँ दईं।
फिरि फिरि बिलोकति मातुतन तब[३] सखीं लै शिव पहिं गईं॥
जाचक सकल संतोषि संकरु उमासहित भवन[४] चले।
सब अमर हरषे सुमन बरषि निसान नभ बाजे भले॥

---

१. जननी—१७०४। २. मिल—१६६१। ३. जब—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। तब—१६६१, १७०४, रा० प्र०। ४. 'न' का 'ने' या 'न' पर चिह्न देकर हाशियेपर महीन कलम या नीबसे 'हि' बनाया है। राशावाले हाथका बनाया जान पड़ता है। १६६१ में। ; १७०४ में भवन है। भवनहिं—१७२१, १७६२, को० रा०।

दोहा—चले संग हिमवंतु तब पहुँचावन अति हेतु।
बिबिध भाँति परितोषु करि बिदा कीन्ह बृषकेतु॥ १०२॥

शब्दार्थ—**जाचक** (याचक)=मँगता, भिक्षुक। '**संतोषि**' अर्थात् इतना दान दिया कि अघा गये फिर माँगनेकी चाह न रह गयी, यथा—'*जाचक सकल अजाचक कीन्हे।*' 'हेतु'=प्रेम यथा—'*भाइन्ह सहित उबटि अन्हवाए। छरस असन अति हेतु जेंवाए॥*', '*अस्तुति सुरन्ह कीन्हि अति हेतू। प्रगटेउ बिषम बान झखकेतू॥*' **परितोषु**=प्रसन्न, संतोष, खुश। इच्छा पूर्ण होनेसे जो प्रसन्नता हो। **बिदा कीन्ह**=लौटनेकी आज्ञा दी, लौटाया, रुखसत किया।

अर्थ—(पार्वतीजी) मातासे फिर मिलकर चलीं, सब किसीने उन्हें यथायोग्य आशीर्वाद दिये। वे घूम-घूमकर पीछे माताकी ओर देखती जाती हैं। तब सखियाँ उनको शिवजीके पास ले गयीं। सब याचकोंको संतुष्टकर शिवजी पार्वतीसहित अपने घर कैलासको चले। सब देवता फूलोंकी वर्षा कर-करके प्रसन्न हुए। आकाशमें भलीभाँति (घमाघम) नगाड़े बजने लगे। तब हिमाचल अत्यन्त प्रेमसे पहुँचानेके लिये साथ चले। वृषकेतु श्रीशिवजीने अनेक प्रकारसे परितोष करके उनको विदा किया॥ १०२॥

टिप्पणी—१ (क) '*जननिहि बहुरि मिलि*······' इति। मातासे भेंट करके जब चलीं तब स्त्रियोंने आसिष दिया। तात्पर्य यह कि अब सब जान गयीं कि ये सबसे मिल-भेंट चुकीं, कोई बाकी नहीं रहा, अब ये न लौटेंगी, इससे इस समय आसिष दिया। (ख) उचित असीस स्त्रियोंके लिये अहिवातकी अचलता है; यथा—'*सदा सुहागिनि होहु तुम्ह जब लगि महि अहिसीस*', '*अचल होहु अहिवात तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जलधारा॥*' (ग) '*फिरि फिरि बिलोकति*······' इति। फिरि-फिरि देखनेका भाव कि जब सखियाँ उमाजीको शिवजीके पास ले गयीं तब माता पीछे हो गयीं; इसीसे फिर-फिरकर देखती हैं। '**फिरि फिरि**' यह कि कुछ दूर चलती हैं फिर माताको देखती हैं, फिर चलती हैं, कुछ दूर चलकर फिर पीछे देखती हैं। पुनः भाव कि सखियाँ अब उनको माताके पास नहीं आने देतीं, अतः '*फिरि फिरि बिलोकति*'* (घ) '*सखी लै गईं*' अर्थात् माता और सब स्त्रियाँ वहीं रह गयीं।

टिप्पणी—२ (क) '*जाचक सकल संतोषि संकरु*' इति। जब उमाजी पास आ गयीं तब उनके कल्याणार्थ शिवजीने दान-पुण्य किया। याचक तो आपको सदा ही अत्यन्त प्रिय हैं, यथा—'*जाचक सदा सुहाहीं*' इति। (विनय०) और यहाँ तो याचकोंके लिये समय ही है। (ख) '*उमासहित भवन चले*' इति। सकल याचकोंको संतुष्ट कर उमासहित चलना कहकर सूचित किया कि इतने अधिक याचक थे और इतना अधिक दान दिया; जिसने जो और जितना माँगा उससे भी अधिक देकर उनको तृप्त करके चले। पुनः यह कि जितना कुछ दहेज मिला वह सब वहीं दान कर दिया। हिमाचलकी दी हुई वस्तुओंमें उमाजी ही बाकी रह गयीं सो उन्हें लेकर घरको चले। यह भाव '*उमासहित भवन चले*' का दिखानेके लिये ही '*सुरन सहित चले*', '*गगन सहित चले*' ऐसा कुछ भी न कहा। (ग) '*भवन*' अर्थात् कैलासको चले; यथा—'*भवन कैलास आसीन कासीं*'। (विनय०) आगे इसी अर्थको स्पष्ट कर दिया है—'*जबहिं संभु कैलासहि आए*'।

टिप्पणी—३ (क) '*सब अमर हरषे सुमन*······' इति। देवतालोगोंने समय जानकर फूल बरसाये, यथा—'*समय समय सुर बरषहिं फूला।*' यात्रामें मङ्गलके लिये पुष्पकी वृष्टि होती है, यथा—'*बरषहिं*

* १ लोकरीति भी है कि कन्या विदा होते समय पीछे फिर-फिरकर देखती है। ऐसा न करनेसे अपवाद होता है कि अरे! यह तो पहिलेसे ही पतिको पहिचानती थी। २ पं०—(क) इससे अपनी कृतज्ञता जनाती हैं कि तुम्हारे यहाँ यह शरीर हमें मिला जिससे बिछुड़े हुए पति फिर मिले। (ख) कृपादृष्टि डालती हैं कि 'तुम्हारा घर सदा श्रीसे पूर्ण रहेगा, देवता, मुनि आदि यहाँ बराबर वास करेंगे। इस कृपादृष्टिका फल है कि नर-नारायण वहाँ सदा विराजते हैं, उद्धवादि संत वहाँ जाते थे।'

सुमन सुमंगल दाता।' (३०२। ४) *'सुर प्रसून बरषहिं हरषि करहिं अपछरा गान। चले अवधपति अवधपुर मुदित बजाइ निसान॥'* (३३९) और चलनेकी तैयारी करनेपर निशान बजाये जाते हैं; यथा—*'चली बरात निसान बजाई। मुदित छोट बड़ सब समुदाई॥'* (३४३। ७) यात्रा समय हर्ष मङ्गलसूचक है, यथा—*'चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा'* (सुं०)—ये समस्त बातें शुभ मङ्गलमय यात्राकी द्योतक हैं। पुन:, जब शंकरजी उमासहित भवनको चले तब सबको हर्षका कारण यह हुआ कि अब तारकासुर मारा जायगा। कामदेवके भस्म होनेपर सब देवता बहुत दु:खी और सभीत थे—*'डरपे सुर भए असुर सुखारी।'* वह डर अब दूर हुआ, असुरवधकी प्रतीति हुई। (ख) ☞ हिमाचलने प्रथम दिन बारातको खिलाया और दूसरे दिन ब्याह करके विदा कर दिया, इससे जाना गया कि देवताओंमें ऐसी ही चाल है। [परंतु 'पार्वतीमङ्गल' में विवाहके पश्चात् जेवनार हुई और फिर बिदाई हुई। यथा—*'लोक बेद बिधि कीन्ह जल कुस कर। कन्यादान संकलप कीन्ह धरनीधर॥'* (७९)······ *'जेइँ चले हरि दुहिन सहित सुर भाइन्ह। भूधर भोर बिदा कर साज सजाएउ॥'* (८५)] (ग) *'बाजे भले'* अर्थात् गहगहाकर बजे।

टिप्पणी—४ (क) *'चले संग हिमवंतु तब······'* इति। अर्थात् जब उमासहित शिवजी भवनको चले तब। (ख) ☞ मेनाजी भवनसे बाहर आयीं और भेंट करके फिर भवनमें गयीं अर्थात् जैसा स्त्रीको उचित है वैसा मेनाने किया। और हिमाचल वरको पहुँचानेको पुरके बाहरतक गये। अर्थात् जैसा पुरुषोंको चाहिये वैसा ही इन्होंने किया। (ग) *'अति हेतु'*=अत्यन्त स्नेहसे; यथा—*'हरषे हेतु हेरि हर ही को।'* (घ) *'बिबिध भाँति परितोष करि'* अर्थात् जैसे पूर्व बहुत तरह समझाया था वैसे ही अब फिर बहुत तरह समझाया; सेवा, भक्ति, दान, दहेज इत्यादिकी प्रशंसा की। (ङ) *'पहुँचावन चले'* कहकर *'बिदा कीन्ह'* कहनेका भाव कि पहुँचानेके लिये साथ न ले गये। वहींसे अथवा कुछ दूर चलकर निकटसे ही लौटा दिया। ऐसा करनेमें 'वृषकेतु' कहा, अर्थात् धर्मकी ध्वजा हैं, ऐसा करना धर्म है। ☞ विवाह-प्रसङ्गमें आदि और अन्त दोनोंमें देवताओंका हर्ष, पुष्पवृष्टि, बाजोंका बजना कहकर बारातके प्रसङ्गको सम्पुटित किया है। बारात चलनेके प्रथम*'हरषे मुनि सब सुर समुदाई॥ सुमन बृष्टि नभ बाजन बाजे।'* (९१। ७-८) उपक्रम है, और बारात बिदा होनेपर *'सब अमर हरषे सुमन बरषि निसान नभ बाजे भले'* यह उपसंहार है।

तुरत भवन आए गिरिराई। सकल सैल सर लिए बोलाई॥ १॥
आदर दान बिनय बहु माना। सब कर बिदा कीन्ह हिमवाना॥ २॥
जबहिं संभु कैलासहिं आए। सुर सब निज निज लोक सिधाए॥ ३॥
जगत मातु पितु संभु भवानी। तेहिं सिंगारु न कहउँ बखानी॥ ४॥

शब्दार्थ—*श‍ृङ्गार*=नख-शिख-शोभा; शरीरकी चित्ताकर्षक सजावट, इत्यादि। स्त्रियोंके श‍ृङ्गार सोलह कहे गये हैं—अङ्गमें उबटन लगाना, नहाना, स्वच्छ वस्त्र धारण करना, बाल सँवारना, काजल लगाना, सेंदूरसे माँग भरना, महावर देना, भालपर तिलक लगाना, चिबुकपर तिल बनाना, मेंहदी लगाना, अर्गजा आदि सुगन्धित द्रव्योंका प्रयोग करना, आभूषण पहनना, फूलोंकी माला धारण करना, पान खाना, मिस्सी लगाना। *'अंग शुची मंजन बसन माँग महावर केश। तिलक भाल तिल चिबुकमें भूषण मेंहदी वेश॥ मिस्सी काजल अर्गजा बीरी और सुगन्ध। पुष्पकलीयुत होय कर तब नवसप्त निबंध॥'* ☞ यहाँ नखशिख-शोभाके साथ-साथ महती सम्भोगलीला भी 'सिंगार' शब्दसे अभिप्रेत है।

अर्थ—'गिरिराज हिमाचल तुरंत घर आये और सब पर्वतों और तालाबोंको बुला लिया॥ १॥ बहुत आदर, सम्मान, दान और विनयसहित सबकी बिदाई हिमवान्‌ने की॥ २॥ (इधर) जैसे ही शिवजी कैलासपर आये (वैसे ही) सब देवता अपने-अपने लोकोंको चले गये॥ ३॥ भवानी और शिवजी जगत्‌के माता-पिता हैं, इसीसे मैं उनका श‍ृङ्गार बखानकर नहीं कहता॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'तुरत भवन आए……।'* बारातियोंके बाद घराती वा जनातीकी बिदाई होती है। पाहुने, सम्बन्धी, इष्टमित्र अपने यहाँ बारात आनेके बहुत पूर्वसे टिके हुए हैं, अतः *'तुरत'* आकर इनको विदा किया। (ख) *'सकल सैल सर'* इति। *'सैल सकल जहँ लगि जग माहीं। लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं॥ बन सागर सब नदी तलावा। हिमगिरि सब कहँ नेवत पठावा॥'* यह ९४ (३-४) में कहा है पर यहाँ केवल *'सैल सर'* का नाम दिया गया। इससे यह न समझो कि 'केवल इन्हीं दोकी बिदाई हुई वा केवल यही दो बुलाये गये थे, अतः पूर्वापर विरोध है।' निमन्त्रण भेजनेमें *'सैल'* को आदिमें और *'तलावा'* (=सर) को अन्तमें कहा, इनके बीचमें *'बन सागर सब नदी तलावा'* को कहा था। ग्रन्थकारने यहाँ विदा करनेमें आदि और अंतके नाम ग्रहण करके मध्यके भी सभी नामोंका ग्रहण सूचित कर दिया।

टिप्पणी—२ (क) *'आदर दान बिनय बहु माना……'* इति। यथा—*'सनमानि सकल बरात आदर दान बिनय बड़ाइ कै।'* (३२६) [यहाँ चार प्रकारसे बिदाई कही है। जिनकी लड़की अपने यहाँ ब्याही है, जो अपने यहाँका कुछ ले नहीं सकते उनका आदर; छोटों और विप्रोंको दान, बड़ों और मुनियोंसे विनय और मान्य (जिनके यहाँ अपने घरकी कन्या ब्याही है उन) का मान किया। अथवा, सबका सब प्रकार आदर-दान-मान आदि किया। सम्मान-दान सब दानोंसे बड़ा है।] (ख) *'सब कर बिदा कीन्ह'* इति। भाव कि सबको न्योता भेजा था, यथा—*'हिमगिरि सब कहुँ नेवत पठावा।'* इससे 'सबको' विदा करना कहा। *'बिदा कीन्ह'* का भाव कि पाहुने बिना विदा किये विदा नहीं हो सकते। आज्ञा लेकर ही जाना होता है; यथा *'चलेउ पवन सुत बिदा कराई।'* (ग) *'बिदा कीन्ह हिमवान'* का भाव कि स्वयं अपनेसे विदा किया, राजा होकर भी निरभिमान हैं, दूसरेसे विदा करा देते ऐसा नहीं किया।

टिप्पणी—३ (क) *'जबहिं संभु कैलासहि आए……'* इति। भाव कि बाराती शिवजीको घरतक पहुँचाकर तब विदा हुए। इस चौपाईका सम्बन्ध ऊपरके *'जाचक सकल संतोषि संकरु उमासहित भवन चले'* से है। वहाँ *'भवन चले'* यहाँ 'भवन (कैलास) में आये'—*'भवन कैलास आसीन कासीं।'* सूचीकटाहन्यायानुसार प्रथम हिमाचलका भवनमें आकर सबको विदा करना कहकर तब शिवजीका कैलासपर आना और विहार इत्यादि वर्णन करते हैं। (ख) *'सुर सब निज निज लोक सिधाए'* इति। [यहाँ शिवजीका देवताओंको विदा करना न लिखकर *'सब सिधाए'* कहा। भाव यह कि हिमवान्‌ने तो सबको न्योता दिया था इससे सबको विदा भी किया और यहाँ शिवजीने किसीको निमन्त्रण तो दिया न था। सब देवता अपनेसे ही बारात सजकर साथ चले थे। ब्रह्मा, विष्णु आदिहीने तो शिवजीको दूलह बनाया था। अतः इनकी बिदाई भी न कही गयी। जैसे स्वयं बाराती बनकर बारात ले गये वैसे ही स्वयं चले भी गये।] अथवा, यहाँ बिदाईका प्रसङ्ग चल रहा है, बिदाईका समय है। मेनाने पार्वतीजीको विदा किया, बृषकेतु शिवजीने हिमाचलको विदा किया, हिमाचलने बरातियों और घरातियोंको विदा किया। इसी तरह यहाँ महादेवजीने देवताओंको विदा किया। तब वे सिधाये। [स्कन्दपु० के अनुसार शिवजीने देवर्षि नारदद्वारा भगवान् विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्रादि देवताओंको बारातमें चलनेके लिये कहला भेजा था। पूर्व इस विषयमें लिखा जा चुका है।]

टिप्पणी—४ *'जगतमातु पितु……'* (क) माता-पिताका शृङ्गार पुत्रको कहना अनुचित है। जगत्‌के माता-पिता हैं, यथा—रघुवंशमहाकाव्यमें। **'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥'** यह कहकर जनाया कि जगत्‌मात्रके कवियोंको शम्भुभवानीका शृङ्गार कहना अनुचित है। (ख) यहाँ *'मातु पितु संभु भवानी'* यथासंख्य नहीं है। पाठक्रमादर्थक्रमोबलीयान् (ग) यहाँ प्रथम 'मातु कहनेका भाव कि शृङ्गार न कहनेमें माता मुख्य है, माताका शृङ्गार न कहना चाहिये। (घ) *'तेहिं सिंगारु न कहउँ बखानी'* का भाव कि यहाँ शृङ्गार कहनेका प्रयोजन था। स्त्री-पुरुषकी क्रीड़ाका वर्णन शृङ्गार कहलाता

है। जैसा महादेव-पार्वतीजीने काम-क्रीड़ा की वैसा ग्रन्थकार न वर्णन कर सके। [स्मरण रहे कि भगवान् शङ्करने भी इस समय अत्यन्त सुन्दर रूप धारण करके सुरतारम्भ किया। स्कन्दपुराणका मत है कि दम्पति महान् क्रीड़ाके लिगे गन्धमादन पर्वतके एकान्त प्रदेशमें चले गये थे। पर मानसकल्पकी कथामें यह विहार कैलासपर हुआ। बैजनाथजी लिखते हैं कि यह कविकी उक्ति है। इनका शृङ्गाररसमय चरित कहनेमें लज्जा लगती है। यह अश्लील दूषण विचार कर न कहा—**'व्रीडाजुगुप्साऽमंगलव्यंजकत्वादश्लीलं त्रिधेति'** काव्यप्रकाश। अर्थात् लज्जा, घृणा तथा अमङ्गलका व्यंजक होनेसे अश्लील दोष तीन प्रकारका है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि शम्भुशुक्रसम्भूत सुतकी इस समय बड़ी आवश्यकता थी, अत: शृङ्गाररसका विधान बड़े विस्तारसे हुआ, जिसे देखकर भगवान् नन्दिकेश्वरने कामशास्त्रकी रचना की।]

करहिं बिबिध बिधि भोग बिलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा॥५॥
हरगिरिजा बिहार नित नयऊ। एहि बिधि बिपुल काल चलि गएऊ॥६॥
तब जनमेउ* षटबदन कुमारा। तारकु असुरु समर जेहि मारा॥७॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। षन्मुख जन्मु सकल जग जाना॥८॥

शब्दार्थ—**भोग बिलास**=आमोद-प्रमोद रतिक्रीड़ा। **भोग**=सुख। **बिलास**=मनोविनोद; आनन्दमय क्रीड़ा; प्रेमसूचक एवं प्रसन्न करनेवाली क्रियाएँ। **बिहार**=संभोग; रतिक्रीड़ा। **षन्मुख** (षण्मुख)=छ: मुखवाले कार्त्तिकेयजी।

अर्थ—श्रीशिवजी और गिरिजाजी विविध प्रकारके भोग-विलास करते हैं, गणोंसहित कैलासपर बसते हैं॥५॥ उनका नित्य नया विहार होता था। इस प्रकार बहुत समय बीत गया।६॥ तब छ: मुखवाले 'कुमार' नामक पुत्रका जन्म हुआ, जिसने तारकासुरको संग्राममें मारा॥७॥ वेद, शास्त्र और पुराणोंमें षट्मुखके जन्म (की कथा) प्रसिद्ध है, सारा संसार जानता है। अर्थात् लोक और वेद दोनोंमें प्रसिद्ध है॥८॥

टिप्पणी—१ *'करहिं बिबिध बिधि भोग बिलासा'* इति। इस समय शिवजी प्रवृत्तिमार्गको ग्रहण किये हुए हैं, वही यहाँ कहते हैं—जैसे प्रवृत्तिमार्गवाले अनेक प्रकारका भोग-विलास करते हैं वैसे ही शिवजी *'करहिं बिबिध बिधि भोग बिलासा।'* (१); प्रवृत्तिवाले अपने गणसमेत अपने घरमें रहते हैं, वैसे ही शिवजी *'गनन्ह समेत बसहिं कैलासा'।'* (२); प्रवृत्तिवाले अपनी स्त्रीके संग विहार करते, वैसे ही *'हर गिरिजा बिहार नित नयऊ।'* (३); प्रवृत्तिवाले पुत्र उत्पन्न करते हैं, वैसे ही यहाँ—*'तब जनमेउ षटबदन कुमारा।'* (४); वे विवाह करते हैं वैसे ही यहाँ *'हर गिरिजाकर भयऊ बिबाहू'* (५)। पुन: भाव कि तप नहीं करते भोग-विलास करते हैं, गण उनकी सेवा करते हैं, निर्जन स्थानमें नहीं रहते वरन् कैलास दिव्य स्थानमें रहते हैं, अब कहीं विचरते नहीं। उत्तरकाण्ड दोहा ५६ में शिवजीने कहा है कि प्रियाके वियोगमें वैराग्यवान् होकर गिरि-वन आदिमें अकेले विचरते थे। इसीसे यहाँ अब प्रियसंयोग होनेपर उस दशाका त्याग कहा। [वि० त्रि० लिखते हैं कि भोग-विलासकी विस्तृत विधि है, कामशास्त्रमें उसका उल्लेख है। जिसने कामशास्त्र नहीं देखा उसे क्या मालूम? पशुकी भाँति सन्तति उत्पन्न कर लेना दूसरी बात है।]

टिप्पणी—२ (क) *'हरगिरिजा बिहार नित नयऊ'* इति। पुराणोंमें लिखा है कि महादेवजीने कई हजार वर्ष रात-दिन भोग-विलास किया तब कार्त्तिकेयका जन्म हुआ। (ख) *'बिपुल काल चलि गयऊ'* का भाव कि भोग-विलास तथा विहारमें बहुत दिन बीत गये, कुछ जान ही न पड़ा। श्रीशिवजी योगकी अवधि हैं और भोगकी भी अवधि हैं; यथा—*'श्रुतिपथपालक धरमधुरंधर। गुनातीत अरु भोग*

* १६६१में 'जनमेउँ' है।

पुरंदर॥' (७। २४। २) (यह श्रीरघुनाथजीके सम्बन्धमें कहा गया है।) विपुल काल बीत गया, पर विहारसे तृप्ति नहीं होती, यथा—*'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषयभोग बहु घी ते'* (विनय)। इसीसे *'नित नयऊ'* कहा अर्थात् जैसे—घी पड़नेसे अग्नि बढ़ती है वैसे ही विषयभोगसे कामाग्नि बढ़ती है। (नित नव विहारपर कालिदासने 'कुमारसम्भव' लिख डाला, परंतु ग्रन्थकारने इसे अनुचित समझकर दिग्दर्शनमात्र कर दिया। (वि० त्रि०)

टिप्पणी—३ *'तब जनमेउ षटबदन कुमारा……'* इति। (क) प्रथम भोग-विलास करना कहा, फिर गिरिजासंग विहार करना कहकर तब षट्वदनका जन्म, क्रमसे यह सब वर्णन किया गया। पंचमुख महादेवजी, एकमुख पार्वतीजी, दोनोंके संगसे षट्मुख कुमार हुए। षट्वदनका नाम 'कुमार' है, मुद्रालङ्कारसे यह भी यहाँ जना दिया है। (ख) षट्मुखका जन्म तारकासुर वधहेतु हुआ। इसीसे षट्वदनका जन्म और तारकासुरका वध साथ ही कहा। आगे फिर जन्म और तारकासुरके वधका हाल कहते हैं कि ये दोनों बातें लोकवेद प्रसिद्ध हैं। (ग) *'तारक असुर समर जेहिं मारा'* यह देवकार्यकी सफलता गायी। (घ) *'समर मारा'* का भाव कि छल करके अथवा और कोई उपाय करके नहीं मारा, सम्मुख लड़कर मारा। (ङ) ☞ षट्मुखका जन्म कई प्रकारसे मुनियोंने कहा है। सबका मत रखनेके लिये कोई प्रकार यहाँ नहीं लिखा।

टिप्पणी—४ *'आगम निगम प्रसिद्ध पुराना……'* इति। (क) इन तीन ग्रन्थोंका प्रमाण वक्ता प्रायः देते हैं, यथा—**'नाना पुराणनिगमागमसम्मतं यद्'**, *'सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान।'* इत्यादि। ये तीनों जगत्‌में प्रसिद्ध हैं तथा इन तीनोंमें षडाननजन्म प्रसिद्ध है। इसीसे सब जगत् जानता है। अतएव पहिले तीनोंमें प्रसिद्ध होना कहकर तब जगत्‌का जानना कहा। ☞देखना चाहिये कि कहाँ-कहाँ है। मत्स्यपुराणमें विस्तारसे जन्म-कथा है। भारतमें तो 'कार्त्तिकेयपर्व' ही एक पर्व है।

नोट—☞*'षटबदनकुमारा'* इनके छः मुख थे इससे षडानन नाम पड़ा। जन्मकी कथाएँ वाल्मीकीय बालकाण्ड सर्ग ३६, मत्स्यपु० अ० १५८, महाभारत वनपर्व, पद्मपु० सृष्टिखण्ड, स्कन्दपुराण मा० के० खण्डादिमें विविध प्रकारसे दी हुई हैं। शिवपार्वतीजीको भोग-विलास करते हुए सौ या सहस्र वर्ष बीत गये तब इनका जन्म हुआ। वाल्मीकीयके मतसे दिव्य सौ वर्षतक विहार हुआ, यथा—**'दृष्ट्वा च भगवान्देवीं मैथुनायोपचक्रमे। तस्य संक्रीडमानस्य महादेवस्य धीमतः। शितिकण्ठस्य देवस्य दिव्यं वर्षशतं गतम्॥'** (१। ३६। ६) और मत्स्यपु० के अनुसार सहस्र वर्ष हुआ, यथा—**'विभ्रतः क्रीडतीत्युक्तं ययुस्ते च यथागतम्।'** (२२) '……**गते वर्षसहस्रे तु देवास्त्वरितमानसः॥'** (२३। अ० १५८) कृत्तिकाओंने इनको पाला। (स्कं० पु० के अनुसार कृत्तिकाओंने अग्निद्वारा शङ्करजीके वीर्यको धारण किया) इसलिये अथवा पद्मपु० के अनुसार कृत्तिकाओंने श्रीपार्वतीजीको सरोवरका जल पीनेको दिया और उनसे वचन ले लिया कि उनका पुत्र कृत्तिकाओंके नामसे (कार्त्तिकेय) प्रसिद्ध हो, वा कृत्तिका नक्षत्रमें जन्म होनेसे इनका नाम कार्त्तिकेय या स्वामिकार्तिक हुआ। तेजके स्कन्न होने, गङ्गाजी और अग्निके धारण करनेसे स्कन्द, गाङ्गेय और अग्निभू इत्यादि भी इनके नाम हुए। इन्द्रकी सेनाके सेनापति होकर इन्होंने तारकासुरपर चढ़ायी की, इससे सेनानी भी कहलाये। तारकासुरने मुद्गर, भिण्डपालादि शस्त्रास्त्र इनपर चलाये पर वह इनका कुछ न कर सका। इन्होंने एक गदा मारी जिससे वह घायल हो गया तब उसने जाना कि ये दुर्जेय हैं, हमारे काल हैं। यह समझकर उसने सब सेनासहित एक बारगी इनपर प्रहार किया, पर इससे भी कुछ न हुआ। अब कार्त्तिकेयजी कुपित हुए, असुर सैन्य मारी गयी और भगी। तब तारकासुरने गदाका प्रहार कर इनके वाहन मोरको मारा। वाहन और देवताओंको भयभीत देख ये शक्ति लेकर उसपर दौड़े और उसके प्रहारसे उसका हृदय विदीर्णकर उसके प्राण ले लिये। (मत्स्यपु० अ० १६०)— 'विनय-पीयूष' में विनयपत्रिकाके पद १५ में इनकी कथा विस्तारसे लिखी गयी है, प्रेमीपाठक वहाँ देखें।

छंद—जगु जान षन्मुख जन्मु कर्मु प्रतापु पुरुषारथु महा।
तेहि हेतु मैं बृषकेतुसुत कर चरित संक्षेपहि कहा॥
यह उमा संभु बिबाहु जे नरनारि कहहिं जे गावहीं।
कल्यानकाज बिबाह मंगल सर्बदा सुखु पावहीं॥
दो०—चरित सिंधु गिरिजारमन बेद न पावहिं पारु।
बरनैं तुलसीदास किमि अति मतिमंद गँवारु॥ १०३॥

अर्थ—षट्मुखकी उत्पत्ति, कर्तव्य, प्रताप और महान् पुरुषार्थ (सम्पूर्ण) को संसार जानता है। इसी कारण मैंने धर्मकी ध्वजा श्रीशङ्करजीके पुत्रका चरित थोड़ेहीमें कहा। जो स्त्री-पुरुष इस शिव-पार्वती-विवाहकी कथाको (व्याख्यानरूपमें) कहेंगे और जो इसे (संगीतके ढंगसे) गाते हैं वा गायेंगे वे कल्याणके कार्यों, विवाह-मङ्गल (आदि) में सदा सुख पाते हैं और पावेंगे। श्रीगिरिजापति शङ्करजीका चरित समुद्र (-वत् अपार) है, वेद भी उसका पार नहीं पाते, (तब) अत्यन्त मन्दबुद्धि और गँवार तुलसीदास क्योंकर वर्णन कर सके॥ १०३॥

टिप्पणी—१ (क) *'जग जान षन्मुख......'* इति। मत्स्यपुराणमें जन्म, कर्म, प्रताप और पुरुषार्थ चारों विस्तारसे लिखे हैं, वहाँ पाठक देख लें, इतना विस्तार यहाँ नहीं लिख सकते। जन्मादि-क्रमसे कहे हैं। जन्म अनेक प्रकारसे कहे हैं, कर्म देवताओंको अभयदान आदि, प्रताप यह कि उनके स्मरणसे शत्रु और रागादिका नाश होता है और मनोरथ सिद्ध होते हैं। महापुरुषार्थ तारकासुरका वध है। [पुनः, केवल शम्भुशुक्र-सम्भूत होना 'जन्म'। जन्म ग्रहण करते ही सुरसेना पतिपदपर अभिषेक 'प्रताप' और उनकी शक्तिका किसी देवतासे न उठना 'महापुरुषार्थ' है। (वि० त्रि०)] (ख) *'तेहि हेतु मैं......'* इति। यह याज्ञवल्क्यजीकी इति है। वे भरद्वाजजीसे कहते हैं कि आप वेद-पुराण-शास्त्र जानते हैं, इन्होंने जगत्‌के लिये विस्तारसे कहा है, अतएव जगत् भी जानता है। इसीसे संक्षेपसे कहा। ☞ संक्षेपका कारण सर्वत्र लिखते हैं; यथा, ***'जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़ै कथा पार नहि लहऊँ॥ ताते मैं अति अलप बखाने। थोरेहि महँ जानिहहिं सयाने॥'*** (१) ***'कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं। एहि लागि तुलसीदास इन्हकी कथा कछु एक है कही॥'*** (२) यथा यहाँ *'जगु जान......'*। पुनः भाव कि जिनके चरित वेदादि कहते हैं, संसार जानता है, उनके चरित भला मैं कहाँतक बखान कर सकता हूँ। [*'जगु जान'* से यह भी जनाया कि चरित अत्यन्त प्राचीन परमानन्ददायक और मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करनेवाला प्रसिद्ध है, इसीसे सब जानते हैं।]

टिप्पणी—२ (क) *'यह उमा संभु'* इति। अब प्रसङ्गका माहात्म्य कहते हैं। इस कथनका भाव यह है कि हम अपने ग्रन्थका माहात्म्य कहते हैं। *'नर नारि'* कहकर सबको अधिकारी बताया। *'कहहिं'* अर्थात् कथारीतिसे कहते और गानरीतिसे गाते हैं। ☞ षट्मुखके जन्मसे महादेवपार्वतीका विवाह सफल हुआ। तारकासुरके वधसे षट्मुखका जन्म सफल हुआ। यह सब कहकर माहात्म्य कहनेका भाव कि ये सब चरित्र विवाहसम्बन्धी हैं। (ख) *'कल्यान काज बिबाह मंगल......'* इति। मङ्गल और कल्याण पर्याय शब्द हैं, यथा—**'कल्याणं मगलं शुभम्'** इत्यमरः। पर यहाँ दोनों लिखनेसे ज्ञात होता है कि कुछ भेद है। वह यह कि 'कल्याण=भलाई। और, मङ्गल=अशुभकी निवृत्ति', तथा *'मंगलमय कल्यानमय अभिमत फल दातार।'* (१। ३०३) कल्याणकर्ताके विवाहसे कल्याण होगा, इस विवाहसे देवतादि सबका कार्य हुआ, इसीसे इसके श्रवणसे सबका कार्य सिद्ध होगा। विवाह सुननेसे विवाह, मङ्गल सुननेसे मङ्गल और सुखके चरित्र सुननेसे सुख पावेंगे—यह सब होंगे। [यहाँ विवाहकी फलश्रुति कही है। *'कल्यान काज बिबाह मंगल सर्बदा सुख......'* का भाव महात्मा लोग यह कहते हैं—(१) 'जो किसी कार्यके लिये

कहे या गावे उसे कार्यमें कल्याण होगा। जो विवाहके लिये पढ़ेंगे उनका विवाहमें मङ्गल होगा और जो निष्काम पढ़ते हैं उनको सदा ही सुख होगा।' (शुकदेवलालजी) वा, (२) विवाह ही कल्याण कार्य है। (३) वा, 'कल्याणके यावत् कार्य (धन, धाम, स्त्री, पुत्र, आरोग्य, दीर्घायु आदि) विवाहादि यावत् मङ्गल प्रसिद्ध उत्सवादिसहित सदा सर्वदा सुखपूर्वक सब वस्तु पावेंगे।' (वै०)]

टिप्पणी—३ (क) *'चरित सिंधु गिरिजारमन……'* इति। *'सुनहु संभु कर चरित सुहावा'* से लेकर *'चरित सिंधु……'* तक शम्भु-चरित है। यहाँ गोसाईंजी अपनी इति लगाते हैं—*'बरनैं तुलसीदास किमि…'*। गिरिजारमनका भाव कि जैसे गिरिजाके पति हुए वह चरित समुद्र है, तात्पर्य कि जितना हमने कहा इतना ही नहीं है। *'चरित सिंधु'* कहकर चरितकी अपारता दिखायी, यथा—*'रघुबीर चरित अपार बारिधि पार कबि कौने लह्यौ';* इसीसे *'बेद न पावहिं पारु'* कहा। [शिवमहिम्नस्तोत्रमें पुष्पदन्तने कहा है—'**असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिंधुपात्रे सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी। लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥**' *'चरित सिंधु…'*—भाव कि नदीका पार मिलता है, समुद्रका नहीं। इसीलिये *'न पावहिं पार'* कहा। वेद सभी कुछ कह सकते हैं, जब वे ही नहीं कह सकते तब मैं क्योंकर कह सकूँ (मा० सं०)। *'चरित सिंधु…न पावहिं पार'* यहाँ कहा। ऐसे ही श्रीरामचरितके सम्बन्धमें उत्तरकाण्डमें कहा है—*'चरित सिंधु रघुनायक थाह कि पावै कोइ।'* (७। १२३) इससे जनाया कि दोनोंके चरित अपार अथाह सागर हैं। यह समानता दिखायी। (प० प० प्र०) (ख) *'अति मतिमंद गँवार।'* इति। भाव कि वेद पढ़-सुनकर चरित जाने जाते थे, वही वेद जब पार नहीं पाते तब मैं तो वेद पढ़ा नहीं हूँ क्योंकि अति मतिमन्द हूँ, न वेदोंको सुना ही है क्योंकि गँवार हूँ, ग्रामवासी हूँ, ग्राममें वेदकी प्राप्ति कहाँ सम्भव है जो सुनता। (घ) ☞ महादेव-पार्वतीका विवाह गुसाईंजीने नियमपूर्वक गाया है। 'शिवजी गणोंसमेत कैलाससे चले' वहाँसे 'विवाह करके कैलास आये', यहाँतक प्रत्येक दोहेमें एक छन्द लिखते हैं और प्रत्येक दोहेमें चार-चार चौपाइयाँ लिखीं। एक-ही-एक दोहा और एक-ही-एक छन्द लिखते हैं, सर्वत्र छन्द एक ही प्रकारका है। [☞ इसमें ११ ही छन्द हैं अर्थात् एक रुद्री (रुद्र=११) देकर इस प्रसङ्गको विशेष माङ्गलिक बना दिया है। ☞ स्मरण रहे कि इस प्रसङ्गमें (संवत् १६६१ की प्रतिसे स्पष्ट है कि) मूल पाठमें 'शिव' शब्द प्राय: तालव्यी शकारसे ही लिखा गया और जहाँ कहीं संयोगी 'क्ष' चाहिये वहाँ 'छ' की जगह क्षकारहीका प्रयोग प्राय: हुआ है। इसमें भी कुछ भाव अवश्य ही होंगे। पाठकगण तथा खोजक इसपर विचार करें।]

नोट—१ *'कर्म प्रताप पुरुषारथ महा'* तारकासुरके वधसे ही प्रकट हैं। इनका तेज देखकर इन्द्रको सोच हुआ और इसने इनपर वज्रका आघात किया जिससे इनका पेट फट गया। इन्होंने, अपने हाथसे अपना पेट पकड़ लिया। अश्विनीकुमारने ओषधि देकर पेटको फिर जैसा-का-तैसा कर दिया। एक बार इन्होंने पर्वतमें बरछा मारा जिससे पर्वतके आरपार छेद हो गया। पैदा होनेके सप्ताहके भीतर ही तारकासुरका इन्होंने वध किया था इत्यादि।

नोट—२ षण्मुख और वृषकेतुसुत दो नाम इनके इस प्रकरणमें दिये गये। तारकासुरके वध और तेज प्रताप तथा पुरुषार्थके विचारसे षट्वदन नाम दिया गया। छ: मुखवाले हैं तब क्यों न ऐसे हों? वृषकेतुसुत इससे कहा कि तारकासुरके वधसे फिर धर्मका प्रचार हुआ।

नोट—३ पं० श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजीके 'विश्वसाहित्यमें रामचरितमानस हास्यरस' नामक पुस्तकके आधारपर ही इस (शिव-पार्वती-विवाह) प्रकरणके नोट लिखे गये हैं, यह प्रकरण समाप्त हो रहा है; अतएव विश्व-साहित्यके नातेसे अब एक नैतिकका बृहत् अवतरण यहाँ दिया जाता है। श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि मैंने 'रामायणमें करुणरस' शीर्षक लेखमालामें (जिसका कुछ अंश 'कल्याण' में प्रकाशित हो चुका है) यह स्पष्ट कर दिया है कि पश्चिमी दु:खान्त नाटकीय सिद्धान्तके कारण आदर्शवाद (Idealism) सर्वदा असफल ही समझा जाता है। नवीन साहित्य यज्ञके एक प्रतिनिधि बर्नार्डशा अवश्य हैं। उन्होंने भी अपने 'Man and Superman' नामक नाटकमें आदर्शवादका मखौल ही उड़ाया है।

टैनर एक आदर्शवादी था जो संसारसे विरक्त होकर त्यागपूर्ण जीवन बिताना चाहता था। अना मायारूपिणी स्त्री थी जो उसे आदर्शके आकाशसे वास्तविकताकी पृथ्वीपर खींच लाना चाहती थी। आखिर टैनर मायाके फंदेमें फँस गया और विवाह हो गया। पर बेचारेकी आदर्शपूर्ण भावनाएँ अब भी बनी हुई थीं। वह भोग-विलासकी सारी सामग्री बेचकर अब भी एक कुटिया बनाना चाहता था। अनाकी सखियाँ उसकी ऐसी आदर्शपूर्ण वक्तृता सुनकर सतर्क हुईं तो उसने कहा—'उन्हें बकने दो' (Let him talk). आह, जीती हुई माया अपने पराजित व्यक्तिकी सिर्फ बातोंवाली डींगकी परवा नहीं करती। पश्चिमी संसारमें आदर्शवादकी मिट्टी तो अब भी पलीद ही है; पर यहाँ देखिये कि आर्य-सभ्यतामें शिव-पार्वती-विवाह बड़े मर्मकी चीज है। आज भी स्त्री-समुदायमें पातिव्रत्य धर्मके नाते पार्वती (गौरी)—पूजाकी ही प्रमुखता प्राप्त है। और शिवजी तो *'सदा शिव योगी'* तथा आदर्श एवं वैराग्यकी मूर्ति ही समझे जाते हैं। पार्वतीजीका आदर्श भोग-वासना नहीं है अपितु सेवा है। वे अनाकी तरह शिवजीको नीचे नहीं घसीटतीं परंतु अपनेको शिवजीके अर्पण करती हैं—शिव-पार्वती-विवाहके बाद शिवजीके किसी आदर्शका बट्टा नहीं लगा। उनकी कुटीकी सजावट वही योगीकी कुटीकी सजावट बनी रही। हाँ, उसमें अन्नपूर्णाके सौन्दर्यका समावेश अवश्य हो गया जिससे जीवनका रूखा-सूखा-पन जाता रहा।—कविने इसीलिये लिखा है ***'संभुचरित सुनि सरस सुहावा'*** (योगके साथ 'हास्यरस' भी है और 'शृङ्गार-रस' भी)।

वीरकविजी—***'चरित सिंधु······बरनै तुलसीदास किमि······'*** में उक्ताक्षेप और 'विचित्र' अलङ्कारकी ध्वनि व्यंजित होती है।'······अत्यन्त मतिमन्द कहकर अपनेको गँवार बनाना इससे श्रेष्ठ वक्ता होनेकी इच्छा रखना विचित्र है। ***'लघुता ललित कुबारि न खोरी*** है।'

श्रीशिव-पार्वती-विवाह-प्रकरण यहाँ समाप्त हुआ।

कैलास-प्रकरण

(उमा-शंभु-संवादका हेतु)

संभु चरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुखु पावा॥ १॥
बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयनन्हि* नीरु रोमावलि ठाढ़ी॥ २॥
प्रेम बिबस मुख आव न बानी। दसा देखि हरषे मुनि ग्यानी॥ ३॥

शब्दार्थ—**सरस**=रसयुक्त; रसीला=नवों रसोंसे पूर्ण। **लालसा**=उत्कट इच्छा; बहुत बड़ी अभिलाषा या चाह। **रोमावलि**=रौंगटे, रोयोंकी पंक्ति।=रोयोंकी पंक्ति जो पेटके बीचों-बीच नाभिसे ऊपरकी ओर गयी हुई होती है।

अर्थ—श्रीशिवजीका सुन्दर रसीला चरित सुनकर श्रीभरद्वाज मुनिने बहुत ही सुख पाया॥ १॥ उनको कथा (सुनने) की लालसा बहुत बढ़ी, नेत्रोंमें जल भर आया और रोमावली खड़ी हो गयी॥ २॥ प्रेमसे बेबस हो गये, मुखसे वचन नहीं निकलता। (भरद्वाजजीकी यह) दशा देखकर ज्ञानी मुनि श्रीयाज्ञवल्क्यजी हर्षित हुए॥ ३॥

टिप्पणी—१ ***'संभु चरित सुनि सरस सुहावा'*** इति। (क) ***'सरस'*** से जनाया कि यह प्रसङ्ग नवों रसोंसे पूर्ण है।—[नवों रसोंके लक्षण पूर्व (३७। १०) ***'नवरस जप तप जोग बिरागा'*** और ***'भावभेद रसभेद अपारा।'*** (९। १०) में विस्तारसे लिखे गये हैं। भक्तवर श्रीशर्वरीशजीने 'नवरसतरंग' में रसोंके

* नयन—१७०४, को० रा०, वि० त्रि०। नयनन्हि—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

लक्षण इस प्रकार दिये हैं—(१) शृङ्गार—*'दंपति छबि करषै जहाँ बरषै मोद अपार। सरसै सदा वसंत ऋतु रसमय सोइ शृङ्गार॥'* उदाहरण—*'छबिखानि मातु भवानि गवनीं मध्य मंडप शिव जहाँ। अवलोकि सकहि न सकुच पतिपद कमल मनु मधुकर तहाँ॥'* (१। १००) (२) हास्य—*'हाव भाव मुख भ्रू नयन बयन ब्यंग्य सुनि चैन। तेहि रस हास्य जनावई बरनत बनै बनै न॥'*; (३) करुण—*'सुखकी चिंता ताप तय दुखहि रहै टिघराय। करुणा रसको रूप इमि सर्बरीश बिलगाय॥'*; (४) रौद्र—*'रिस नख शिख लों ब्यापि रहि तपै ताप तन माहि। रस सु रौद्र तेहि कवि कहैं हर्ष शोक भय नाहिं॥'*; (५) वीर—*'पीर गनै नहिं शंक मन रहै धीर रणरंग। तकै आपनी घात को सो रस वीर प्रसंग॥'*; (६) भयानक—*'जाके बेग बिलाय चित भभरे मन बुधि ज्ञान। ज्ञान भयानक रस हरेउ कैसे करै बखान॥'*; (७) बीभत्स—*'घृणता अरु दुर्गन्धिता कुत्सित महा कुरूप। सहजहि लहिय बिराग जहँ सो बिभत्स रसरूप॥'*; (८) अद्‍भुत—*'सत्य बीच भासै असत असत बीच सत्यार्थ। हरिचरित्र जग नाट्य सम अद्‍भुत यहै यथार्थ॥ मन बुधि चित सब मिलि रहहिं…… ठगाय। होइ विवर्ण ठग भासहीं अद्‍भुत यहै जनाय॥'*; (९) शान्त—*'गत संकल्प विकल्प होइ चमकति चमक तुरीय। शर्बरीश गत शान्तरस अकथनीय कथनीय॥'*]

उदाहरण, यथा—(१)*'बिष्नु बिरंचि आदि सुरब्राता। चढ़ि चढ़ि बाहन चले बराता॥ सुर समाज सब भाँति अनूपा।'* (९२। ७-८), *'सिवहिं संभुगन करहिं सिंगारा।'*, *'करि बनाव सजि बाहन नाना। चले लेन सादर अगवाना॥'* (९५। २) कामसमाजवर्णन, गाली-गान आदि शृङ्गाररसके उदाहरण हैं।

(२) हास्य—*'बिष्नु बचन सुनि सुर मुसुकानें। निज निज सेन सहित बिलगानें॥'* (९३। २), *'देखि सिवहि सुरत्रिय मुसुकाहीं। बर लायक दुलहिनि जग नाहीं॥'* (९२। ६), *'नाना बाहन नाना बेषा। बिहसे सिव समाज निज देखा॥'* (९३। ६) इत्यादि।

(३) करुण—*'भईं बिकल अबला सकल दुखित देखि गिरिनारि। करि बिलाप रोदति बदति सुता सनेह सँभारि॥'* (९६)*……जनि लेहु मातु कलंकु करुना परिहरहु अवसर नहीं॥'* (९७), *'रोदति बदति बहु भाँति करुना करत संकर पहिं गई। अति प्रेम करि बिनती बिबिध बिधि जोरि कर सन्मुख रही॥'* (८७)

(४) रौद्र—*'रुद्रहि देखि मदन भय माना। दुराधरष दुर्गम भगवाना॥'* (८६। ४), *'बिकट बेष रुद्रहि जब देखा। अबलन्ह उर भय भएउ बिसेषा॥'* (९६। ४), *'सौरभ पल्लव मदनु बिलोका। भयउ कोप कंपेउ त्रैलोका॥ तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भएउ जरि छारा॥'* (८७। ५-६)

(५) वीर—*'अस कहि चलेउ सबहि सिरु नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई॥ कोपेउ जबहि बारिचरकेतू। छन महँ मिटे सकल श्रुतिसेतू॥ ब्रह्मचरज ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ज्ञान बिज्ञाना॥ सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक कटकु सबु भागा॥'* (८४। ३—८) *'देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माखा॥ सुमन चाप निज सर संधाने। अति रिस ताकि श्रवन लगि ताने॥ छाँड़े बिषम बिसिख उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे॥'* (८७। १—३)

(६) भयानक—*'शिवसमाज जब देखन लागे। बिडरि चले बाहन सब भागे॥……बालक सब लै जीव परानें॥ गए भवन पूछहिं पितु माता। कहहिं बचन भय कंपित गाता॥ कहिअ काह कहि जाइ न बाता। जम कर धार किधों बरिआता॥'* (९५। ४—७), *'बिकट बेष रुद्रहि जब देखा। अबलन्ह उर भय भएउ बिसेषा॥'* (९६)

(७) बीभत्स—*'भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरें। खर स्वान सुअर सृकाल मुख गन बेष अगनित को गने……'* (९३)

(८) अद्‍भुत—*'कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू॥ बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना। रिष्टपुष्ट कोउ अति तनखीना॥……'*(९३), *'अजा अनादिशक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि॥ जग संभव पालन लयकारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥ जनमीं प्रथम दच्छ गृह जाई॥ नाम सती सुंदर तन पाई॥'* (९८। २—५)

(९) शान्त—*'जब तें सती जाइ तनु त्यागा। तब तें शिव मन भयउ बिरागा॥ जपहिं सदा रघुनायक*

नामा। जहँ तहँ सुनहिं रामगुनग्रामा॥ चिदानंद सुखधाम शिव बिगत मोह मद मान (काम)। बिचरहिं महि धरि हृदय हरि सकल लोक अभिराम॥' (७५), *'मयना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी॥'''''निज इच्छा लीला बपु धारिनि।'; 'संकर सहज सरूप सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥'* (५८।८)

☞ पुनः, इसमें वात्सल्य, सख्य और दास्य-भक्ति-सम्बन्धी ये रस भी हैं।

(१०) वात्सल्यरस, यथा—*'कहहु सुता के दोष गुन मुनिबर हृदय बिचारि।'* (६),*'जननी उमा बोलि तब लीन्ही। लै उछंग सुंदर सिख दीन्ही॥ करेहु सदा संकर पद पूजा। नारि धरमु पति देउ न दूजा॥'* (१०२। २-३), *'नाथ उमा मम प्रान सम गृहकिंकरी करेहु। छमेहु सकल अपराध अब होइ प्रसन्न बरु देहु॥'* (१०१)

(११) सख्य यथा—*'अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे।'* (९०। ४)

(१२) दास्य, यथा—*'भृंगिहि प्रेरि सकल गन टेरे॥ शिव अनुसासन सुनि सब आए। प्रभुपद जलज सीस तिन्ह नाए।'* (९३। ४-५) *'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥ मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिअ सुभ जानी॥ तुम्ह सब भाँति परम हितकारी। अज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी॥'* (७७। २-४)

☞ पुनः, श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्तिके भी लक्षण इसमें पाये जाते हैं; अतः *'सरस'* कहा। उदाहरण, यथा—*'जपहिं सदा रघुनायक नामा। जहँ तहँ सुनहिं रामगुनग्रामा॥'* (७५। ८), *'बिचरहिं महि धरि हृदय हरि सकल लोक अभिराम।'* (७५), *'नित नै होइ रामपद प्रीती।'* (७६। ३),*'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा।''''''* ' (७७।२), *'होइहि सोइ जो राम रचि राखा''''*।' (५२। ७),*'नाथबचन पुनि मेटि न जाहीं'*, इत्यादि।

(ख) *'संभुचरित'* इति। *'उमाचरित सुंदर मैं गावा। सुनहु संभु कर चरित सुहावा॥'* (१। ७५। ६) उपक्रम है, *'संभुचरित सुनि सरस सुहावा'* उपसंहार है।—यही इतनेके बीचमें *'शम्भुचरित'* है। इसके भीतर नौ रस हैं, अतः यह *'सरस'* है। सरस है, इसीसे स्वयं *'सुहावा'* अर्थात् सुन्दर है और दूसरोंको सुहाता है। *'सरस'* और *'सुहावा'* दो विशेषण दिये, इसीसे *'अति सुख'* पाना लिखा।

(ग) ☞ अच्छे वक्ताओंकी वाणी सुनकर सर्वत्र श्रोताओंको *'अति सुख'* हुआ है। यथा—

(१) *'रामकथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुखु मानी॥'* (४८। ३)

(२) *'भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥'* (३। १७। १)

(३) *'हरिचरित्रमानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमिति सुख पावा॥'* (७। ५३। ७) (उमाजी)

(४) *'नयन नीर मन अति हरषाना। श्रीरघुपति प्रताप उर आना॥'* (७। ९३। २) (गरुड़जी)

तथा यहाँ, (५) *'संभुचरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुख पावा॥'*

टिप्पणी—२ *'बहु लालसा कथा पर बाढ़ी।''''''* ' इति। (क) सुनकर *'अति सुख'* पाया, इसीसे *'बहु लालसा'* बढ़ी कि शिवचरित्र और सुनावें। *'अति सुख पावा'*, अतएव *'नयन नीर रोमावलि ठाढ़ी।'* नेत्रोंमें जल और तनमें रोमाञ्च होना प्रेमकी दशा है, इसीसे आगे 'प्रेम' शब्द भी लिखते हैं—*'प्रेम बिबस मुख आव न बानी।'* अथवा, (ख) कथा सरस है, भरद्वाजजी रसके जानकार हैं, इसीसे कथापर बहुत लालसा बढ़ी। यथा—*'रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥'* (७। ५३) लालसा बढ़नेकी बात चेष्टा वा दशाके द्वारा जान पड़ी। दशा आगे लिखते हैं—*'नयन नीर''''।'* (ग) [पंजाबीजी लिखते हैं कि श्रीयाज्ञवल्क्यमुनिकी 'कथाकी रीति और अपूर्व कथासे 'अति सुख' हुआ। अथवा, कथा सरस और सुन्दर है और भरद्वाज 'सर्वरसग्राही' हैं, इसलिये 'सुहावनी' भी है]।

टिप्पणी—३ *'प्रेम बिबस मुख आव न बानी।''''''* ' इति। (क) प्रेममें मुखसे वाणी नहीं निकलती; यथा—*'कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूँछा। प्रेम भरा मन निज गति छूँछा॥'* (२। २४२। ७) (बैजनाथजी लिखते हैं कि प्रियका रुख देखकर या गुण सुनकर जो प्रेम उमगता है और शरीरकी सुध नहीं रह जाती, यह प्रेमकी पहली 'उक्त दशा' है।) (ख) *'दसा देखि'* इति। मन, कर्म और वचन तीनोंकी दशा देखी। यथा—*'बहु लालसा कथा पर बाढ़ी'* यह मन, *'नयनन्हि नीरु रोमावलि ठाढ़ी।'* यह तन वा

कर्म और *'प्रेम बिबस मुख आव न बानी'* यह वचनकी दशा कही। मन, कर्म और वचन तीनोंसे भरद्वाजजीको यहाँ प्रेममें मग्न देख श्रीयाज्ञवल्क्य मुनि हर्षित हुए। (ग) *'मुनि ग्यानी'* कहनेका भाव कि श्रीयाज्ञवल्क्यजीको यह ज्ञान अच्छी तरहसे है कि शिवविमुख श्रीरामजीको प्रिय नहीं है, शिवभक्त श्रीरामजीको प्रिय है। अथवा, ज्ञानी होते हुए भी प्रेमकी दशा देखकर प्रसन्न हुए। इससे जनाया कि श्रीयाज्ञवल्क्यजी ज्ञानी और प्रेमी दोनों हैं। प्रेम ज्ञानकी शोभा है, यथा—*'सोह न रामपेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥'* (२।२७७।५) वे कोरे शुष्क ज्ञानी नहीं हैं।

प० प० प्र०—हर्षित इससे कि ऐसा श्रोता बड़े भाग्यसे मिलता है। श्रीरामकृपासे ही ऐसे शिव-राम-प्रेमी श्रोतासे सत्सङ्ग करनेका लाभ वक्ताको मिलता है। भुशुण्डिजीने भी कहा है—*'आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि राम मोहि संतसमागम दीन॥'* (७। १२३) यह केवल विनय नहीं है। यह त्रिसत्य है कि भरद्वाज या गरुड़जीके समान श्रोतासे सत्सङ्ग करनेका भाग्य केवल रामकृपासे ही मिलता है।

नोट—१ श्रोताको वक्ताकी प्रशंसा करके अपनी कृतज्ञता जनानी चाहिये थी, सो यहाँ नहीं की गयी? इसका समाधान यह है कि ग्रन्थकारने इनका कृतकृत्य होना *'प्रेम बिबस मुख आव न बानी'* कहकर सत्य कर दिखाया। इसीसे आगे इनकी वाणी, इनका बोलना नहीं लिखा।

अहो धन्य तव जन्मु मुनीसा। तुम्हहि प्रान सम प्रिय गौरीसा॥ ४॥
सिव पद कमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहि ते सपनेहुँ न सोहाहीं॥ ५॥
बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। रामभगत कर लच्छन एहू॥ ६॥

अर्थ—अहा हा! हे मुनीश! आपका जन्म धन्य है। आपको गौरीपति श्रीशिवजी प्राणोंके समान प्रिय हैं॥ ४॥ श्रीशिवजीके चरणकमलोंमें जिनका प्रेम नहीं है, वे स्वप्नमें भी (अर्थात् कभी भूलकर भी) श्रीरामजीको नहीं भाते॥ ५॥ विश्वनाथ (श्रीशिवजी) के चरणोंमें निष्कपट प्रेम होना, यही (वा, यह भी) श्रीरामभक्तका लक्षण है॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'अहो धन्य तव जन्म'''* इति। (क) याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजीकी प्रशंसा कर रहे हैं, इसीसे सम्बोधनमें भी *'मुनीस'* यह बड़प्पनका पद दिया। (पहले मुनि ही सम्बोधन किया था, यथा—*'सुनु मुनि मिटिहि बिषाद'*; अब प्रेममें विभोर देखकर *'मुनीस'* कहते हैं। वि० त्रि०) श्रीरामजीके शुचि सेवक होनेसे आश्चर्य हुआ, अतः *'अहो'* कहा। श्रीरामजीका शुचि सेवक होना आश्चर्य है। श्रीरामजीके शुचि सेवक होने तथा गौरीश इनको प्राणसम प्रिय होनेसे *'धन्य'* कहा।—(पंजाबीजी लिखते हैं कि भाव यह है कि 'हमने गौरीशके चरित तुमको सुनाये थे कि यदि विरक्त होंगे तो इनका मन इन चरित्रोंमें न लगेगा, प्रेम न होगा। तुम धन्य हो, तुमको ईश्वरोंकी सब क्रियाएँ प्यारी हैं। अथवा, भेद-दृष्टिवाले तत्त्वके अधिकारी नहीं हैं। दोनोंमें तुम्हारी भक्ति है, इसलिये तुम धन्य हो।) (ग) *'गौरीसा'* का भाव कि जैसे गौरी (पार्वतीजी) को ईश (शिवजी) प्रिय हैं, वैसे ही तुमको भी प्रिय हैं। (घ) श्रीभरद्वाजजीकी रामभक्ति प्रकट है, इसीसे याज्ञवल्क्यजीने संवादके आदिमें कहा था कि *'राम भगत तुम्ह मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी॥'* (४७। ३) शिवभक्ति गुप्त है। जब शिवचरित सुनाया गया तब प्रकट हुई, उसीको देखकर प्रशंसा करते हैं।

टिप्पणी—२ *'सिव पद कमल जिन्हहिं रति नाहीं।''''''* इति।(क) तात्पर्य कि ऐसे लोग रामभक्त कहलाते भर हैं, पर भगवान्‌को प्रिय नहीं हैं; यथा—*'सिवद्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा॥'* (६। २) (पं० रा० कु० का पाठ *'भावा'* है)। (ख) सगुण-रूप होनेसे *'सपनेहु'* कहा, नहीं तो ईश्वरको स्वप्न कैसा?—('स्वप्नमें भी मुहावरा है। स्वप्नसे तात्पर्य नहीं है। *'सपनेहुँ साँचहु मोहि पर जौं'* (१। १५ देखिये।) (ग) श्रीरामजीके प्रिय (भक्त)में प्रेम न हुआ तो श्रीरामजीको कैसे सुहावें?

पुनः भाव कि शिवपदमें रति नहीं है, अर्थात् उनसे विरोध करते हैं। विरोध करना इससे पाया गया कि वे रामजीको स्वप्नमें भी नहीं सुहाते। [यहाँ शिवपदकमलरतिका अभाव विवक्षित है। प्रेमका अभाव होनेपर भी शिवद्रोहका अभाव रह सकता है। अतः *'रति नाहीं'* से विरोध करनेका भाव लेना सुसंगत नहीं है। शिवद्रोही तो नरकगामी होते हैं, यथा—*'संकर प्रिय मम द्रोही सिवद्रोही मम दास। ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥'* (६। २) शिवपदरतिहीनको श्रीरामजीकी भक्ति नहीं, यथा—*'संकर भजन बिना नर भगति न पावहिं मोरि।'* (७। ४५) (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ *'बिनु छल बिस्वनाथपद नेहू।'*...... 'इति। (क) *'बिश्वनाथ'* का भाव कि शिवजी विश्वको उत्पन्न करते हैं, विश्वका पालन करते हैं, विश्वके आत्मा हैं, यथा—*'जगदातमा महेसु पुरारी। जगत जनक सबके हितकारी॥'* (१। ६४। ५) अतएव इनके पूजनसे विश्वभरका पूजन हो गया। पुनः भाव कि इनकी प्रसन्नतापर जगत्‌की प्रसन्नता निर्भर है। (ख) विश्वनाथके चरण-सेवनसे श्रीरामजीकी भक्ति मिलती है। यथा—*'होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥'* (६। ३। ३) (ग) छल क्या है? *'स्वारथ छल फल चारि बिहाई'* से स्पष्ट है कि स्वार्थकी चाह, अर्थ-धर्म-काम-मोक्षकी चाह भी छल है। संसारको दिखानेके लिये जो भक्ति की जाती है वह छल है। [(घ) *'रामभगत कर लच्छन एहू'* इति। भागवतोंपर प्रेम करना ही भागवतोंका मुख्य लक्षण है, यथा—'**आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्। तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥** (पाद्मे) श्रीशिवजी परम भागवत हैं; यथा—**निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा। वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा॥**' (भा० १२। १३। १६) (शुकदेवलालजी)]

वि० त्रि०—असाधारण धर्मको लक्षण कहते हैं। यहाँ भरद्वाजजीकी परीक्षा ली गयी कि लक्षितमें लक्षण घटता है या नहीं। सो लक्षण घटा। अतः कथा सुननेका अधिकारी जान लिया।

अलङ्कार'—*'तुम्हहिं प्रान सम प्रिय गौरीसा.'* में 'पूर्णोपमालङ्कार' है। *'शिवपद कमल जिन्हहि रति नाहीं।'*......' में पहले साधारण बात कहकर कि जिनका शिवपदकमलमें प्रेम नहीं है वे श्रीरामजीको प्रिय नहीं होते, फिर उसका समर्थन विशेष सिद्धान्तसे करना कि श्रीरामभक्तका लक्षण ही यह है कि श्रीशिवजीमें प्रेम हो 'अर्थान्तरन्यास अलङ्कार' है।

शिव सम को रघुपति ब्रत धारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥ ७॥
पनु करि रघुपति भगति देखाई*। को शिव सम रामहि प्रिय भाई॥ ८॥

अर्थ—श्रीशिवजीके समान श्रीरघुनाथजीकी भक्तिका व्रत धारण करनेवाला दूसरा कौन है? अर्थात् कोई नहीं (कि) जिन्होंने सती-ऐसी पतिव्रता स्त्रीको बिना अघके ही त्याग दिया॥ ७॥ और प्रण करके श्रीरघुनाथजीकी भक्तिको दिखाया है। हे भाई! श्रीरामजीको शिवजीके समान (दूसरा) कौन प्रिय है? अर्थात् कोई नहीं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'शिव सम को'*......' इति। (क) प्रथम कहा कि जिनके शिवपदकमलमें प्रीति नहीं है वे श्रीरामजीको नहीं सुहाते और उनके चरणोंमें निष्कपट प्रेम होना यह रामभक्तका लक्षण है, अब इसीका कारण लिखते हैं कि *'शिव सम को'*......'। अर्थात् उनका रघुपतिव्रत पतिव्रताके व्रतके समान है।

* 'बिनु अघ तजी......' इति *

महर्षि याज्ञवल्क्य आदिके मतसे श्रीसतीजी *'बिनु अघ'* हैं, क्योंकि उन्होंने किसी पाप-बुद्धिसे सीतारूप नहीं धारण किया, परीक्षार्थ धारण किया। शिवजी रघुपतिव्रतधारी हैं। श्रीसीतारूप धारण करना उस व्रतके विरुद्ध है, उससे भक्तिका नाश है। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, यथा—*'जौ अब करौं सती सन प्रीती।*

* 'दृढ़ाई'—रा० प०, गौड़जी, ना० प्र०। 'दिढ़ाई'—वीरकवि। देखाई—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०, पंजाबीजी। प्राचीन पोथियोंमें 'देखाई' है।

मिटै भगति पथु होइ अनीती॥' (१। ५६। ८) इस कारण उनको त्याग करना पड़ा। पुनः, *'बिनु अघ'* कहनेका भाव कि पापसे तो सभी त्याग करते हैं, पाप होनेपर त्याग करनेसे कौन बड़ाई है? भक्तिकी रक्षाके लिये बिना पापके ही त्याग किया, यह शिवजीकी बड़ाई है। (पं० रामकुमारजी) याज्ञवल्क्यजी यहाँ श्रीशिवजीके रघुपति-भक्तिव्रतकी प्रशंसामें यह प्रमाण दे रहे हैं। देखिये, अपराधिनी अहल्याके त्यागसे क्या किसीने गौतमजीकी प्रशंसा की? किसीने तो नहीं। तब अपराधिनी सतीके त्यागमें श्रीशिवजीकी बड़ाई कैसे सम्भव हो सकती है?

यहाँ प्रायः सभी यह शंका करते हैं कि सतीमोह आदि प्रकरणों और आगे कैलास प्रकरणमें भी जो कहा है—*'मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पति बचनु मृषा करि जाना॥'* (१। ५९। १) *'कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥'* (१। ५८। २) *'निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपै अवाँ इव उर अधिकाई॥'* (१। ५८। ४) *'सिय बेषु सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरीं।'* (१। ९८) इत्यादि—इन प्रमाणोंके होते हुए भी *'बिनु अघ'* कैसे कहा? इससे पूर्वापर विरोध होता है। दूसरी शंका यह करते हैं कि 'यदि सतीजीका कोई अपराध न था तो शिवजीपर उनके त्यागका दोष आरोपण होता है; उनमें श्रीपार्वतीजीके कथनानुसार 'अकरुणा और मर्यादा-भंग' दोष लगेगा; क्योंकि निरपराध पतिव्रताका त्याग करना घोर अन्याय है!' —ये शंकाएँ उठाकर उनके समाधान भी महानुभावोंने किये हैं।—

१ *'अघ'* शब्दका अर्थ 'पाप, दुःख, खेद, और व्यसन' है। यथा—**'अहो दुःखव्यसनेष्वघम्'** (अमरकोश ३। ३। २७) यदि *'दुःख'* अर्थ ले लें तो शंका निवृत्त हो जाती है। अर्थ यह होगा—'सती-ऐसी प्रिय स्त्रीको भी त्याग देनेमें उनको किंचित् दुःख न हुआ, शिवजी रामभक्तिमें ऐसे पक्के हैं।' (मा० त० वि०) इस अर्थमें कोई-कोई यह शंका करते हैं कि शिवजी तो स्वयं कहते हैं कि *'तब अति सोच भयउ मन मोरें। दुखी भयउँ बियोग प्रिय तोरें॥'* (७। ५६) तब *'बिना दुःख'* कैसे माना जाय? प्रत्युत्तरमें कहा जाता है कि सतीजीमें पत्नीभावका त्याग करनेमें दुःख नहीं हुआ, जब सतीजी दक्षयज्ञमें जाकर भस्म हुईं तब शिवजी 'भक्तके विरहसे' व्याकुल हुए; यथा—*'जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत बिरह दुख दुखित सुजाना॥'* (१। ७५। २) देखिये। सतीजीमें आपके दो भाव हैं, एक पत्नी, दूसरा भक्त। पत्नीभावसे वियोगका दुःख नहीं हुआ। वरंच भक्तिभावसे हुआ।

२ *'बिनु अघ'* शिवजीका विशेषण मान लें अथवा *'रघुपति ब्रत'* का। अर्थात् निष्पाप (अनघ) शिवजीने सती-ऐसी स्त्रीको तज दिया। 'अथवा, शिवसमान निर्मल रघुपतिभक्तिव्रत धारण करनेवाला कौन है? *बिनु अघ*=निर्मल; यथा—*'पर अघ सुनइ सहस दस काना।'* (१। ४। ९) *'बिनु अघ रघुपति ब्रत धारी'*=पापरहित रघुपतिव्रत धारण करनेवाला। भाव यह कि लोग व्रत-नियमादि लोभवश वा स्वार्थके लिये करते हैं और शंकरजीने सतीत्यागरूपी व्रत केवल श्रीरामचन्द्रजीकी भक्तिके निमित्त धारण किया। (पं०)

३ नंगे परमहंसजी लिखते हैं कि सतीने सीताजीका रूप धारण किया, इस अपराधसे शिवजीने उनका त्याग किया, अतः सतीजी पापी नहीं हैं। पापी उनको कहते हैं जो स्वयं पापकर्म करता है और अपराधी उसको कहते हैं जो अपनी चूकसे दूसरेको नुकसान पहुँचा देता है, वैसे ही सतीजीने शिवजीको नुकसान पहुँचा दिया था कि शिवजी जिन सीताजीको माताभाव करके मानते थे, उन्हीं सीताजीका रूप सतीने बना लिया था। अब यदि शिवजी सतीजीसे संग करते हैं तो माताभावमें विरोध पड़ता है, यही शिवजीका नुकसान है। (प्रमाण)—*'जौं अब करउँ सती सन प्रीती। मिटै भगति पथ होइ अनीती॥'* इसी कसूरसे शिवजीने त्याग किया था, अतः सतीके लिये *'बिनु अघ'* की शङ्का करना वृथा है।

४ मा० त० वि० कार लिखते हैं कि—(क) 'स्त्री-त्याग किये जानेयोग्य तभी है जब व्यभिचारका पाप पाया जाय और पाप वही है जिसका प्रायश्चित्त भी हो, सो पाप सतीमें नहीं रहा तथापि श्रीशिवजी रामव्रत अभिरक्षक हैं, इसलिये सतीका त्याग किया। जिसमें दूसरोंको भी भय हो।' (ख) *'निज अघ समुझि'* और *'मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना'* इत्यादिमें जो *'अघ'* कहा गया है यह केवल सतीजीका

अनुमानमात्र है; यथा—*'सती हृदय अनुमान किय"""।'* (१। ५७) और यहाँ जो *'बिनु अघ'* कहा है वह याज्ञवल्क्य-स्मृतिकारकी सम्मति है। *'तजी'* से 'पृथक् शय्या' का तात्पर्य है। इतनेपर भी शिवजीने उनको ग्रहण नहीं किया, इस अन्तिम अवस्थाका उल्लेख यहाँ *'बिनु अघ सती'* में है। (ग) अथवा, यद्यपि सतीजीने अपनेको अघयुक्त कहा तथापि श्रीशिवजी और श्रीरामजी किसीने भी उनको अघवाली न कहकर *'परम पुनीत'* और *'अति पुनीत'* ही कहा है। सम्भवतः उन्होंने सोचा होगा कि असत्य भाषण आदि अपराध तो छोटोंसे होता ही है, ऐसे अपराधके लिये यदि स्वामी उसका त्याग करे तो निर्वाह नहीं होनेका। —जान पड़ता है कि सतीजीको अन्ततक यह नहीं मालूम हुआ कि शङ्करजीने उनका किस कारणसे त्याग किया है; वे यही समझती रही हैं कि मैं झूठ बोली, पतिका वचन असत्य माना और श्रीरामजीको मनुष्य माना, इसीसे मेरा त्याग हुआ है और इसीसे उन्होंने इन्हींका पश्चात्ताप किया है। पश्चात्ताप न होता तो वह पाप बना रहता। पश्चात्तापसे पाप धुल गया, अब वह नहीं है।

५ बैजनाथजी लिखते हैं कि बिना पाप सती-ऐसी सुन्दर पतिव्रताको त्याग करनेका भाव यह है कि यदि शिवजी उनको ग्रहण करते तो शिवजीको कोई पाप न लगता, जो सतीजीका पाप विचारिये तो व्यर्थ ही है, वे अपना फल भोगतीं, शिवजीसे क्या प्रयोजन? यदि कहो कि सम्बन्ध है तो इसका उत्तर है कि यह तो नियम शिवजीमें नहीं, क्योंकि जब राजा वीरमणिने रामाश्वमेधमें घोड़ा बाँधकर-शत्रुघ्नजीसे युद्ध किया तब शिवजीने वीरमणिका साथ दे शत्रुघ्नजीसे युद्ध किया, इत्यादि। और सतीजीने परीक्षामात्र सीता-वेष धारण किया, वेष करनेसे असलियत तो आ नहीं जाती, यथा—*'जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥'* (७। ७२) श्रीरामस्नेह-दृढ़ताहेतु ही शिवजीने उनका त्याग किया और किसी कारण नहीं।

(विचार कीजिये तो सतीजी निष्पाप ही ठहरेंगी जैसा ऊपर कुछ महानुभावोंका मत लिखा गया है।) एक पाप *'सीतावेष'* धारण करना कहा जाता है। इसमें सतीजी यों निर्दोष ठहरती हैं कि जीव जिस उपायसे भी भगवत्-सम्मुख हो उसे दोष नहीं कहते। सतीजीने तो प्रभुको जाननेहीके लिये परीक्षार्थ सीतारूप धारण किया था न कि किसी पाप-बुद्धिसे।—*'जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥'* (७। ८९। ७-८) भुशुण्डिजीका वाक्य है कि बिना जाने विश्वास नहीं होता, बिना विश्वास प्रीति नहीं होती और बिना प्रेमके भक्ति दृढ़ नहीं होती। सतीजीने जाननेके लिये यह किया, अतः निर्दोष हैं। देखिये गोपिकावृन्दने तो काममोहित हो प्रभुमें प्रेम किया था तब भी उनको कोई दोष न लगा वरंच वे परम धन्य मानी गयीं। यथा, *'काममोहित गोपिकन्ह पर कृपा अतुलित कीन्ह। जगतपिता बिरंचि जिन्हके चरन की रज लीन्ह॥'* (विनय० २१४) और भी देखिये, नित्य ही देखनेमें आता है कि लड़के लीला-स्वरूप श्रीराम-कृष्ण-सीता-राधिका आदि बनते हैं पर वे सदाके लिये श्रीराम-कृष्ण आदि नहीं मान लिये जाते, जितनी देर वे लीलारूप धारण किये रहते हैं उतनी ही देर वह भाव उनमें माना जाता है। उनके पिता-माता-विद्यागुरु आदि उन्हीं लड़कोंको पुत्र, विद्यार्थी आदि भावोंसे दण्ड देते हैं तथापि उन माता, पिता, गुरु आदिको लोग और वेद-शास्त्र कोई भी तो दोष नहीं लगाते। इसी तरह भगवत्-सम्मुखताके लिये और वह भी पतिकी आज्ञासे—*'तौ किन जाइ परीछा लेहू॥ तब लगि बैठ अहौं बटछाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहिं पाहीं॥ जैसे जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतनु बिबेकु बिचारी॥'* (१। ५२। १—३)—सतीजी, यह जाननेके लिये कि ये राम ब्रह्म ही हैं या नहीं, परीक्षार्थ गयीं और उसीके लिये कुछ क्षणोंके लिये उन्होंने सीता-वेष धारण किया। अतः उसमें कोई पाप न था और शिवजी भी यदि उनको न त्याग करते तो भी कोई उनको पाप न लगाता।

दूसरा पाप 'पतिसे झूठ बोलना' है। सतीजी परीक्षासे भयभीत हो गयी थीं, वे घबड़ायी हुई पतिके पास आयी थीं—*'सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदय बड़ सोचु।'* (१। ५३) """ *जाइ उतरु अब देहौं*

काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा॥' ·····*'सतीं समुझि रघुबीर प्रभाऊ। भय बस सिव सन कीन्ह दुराऊ॥'* (५६। १)। विद्यामायाकी प्रेरणासे जीवको मोह होता है, जैसे श्रीभुशुण्डिजी, गरुड़जी और नारदजीको हुआ, तो भी इनको कोई भी पापी नहीं कहता, फिर सतीजीने जो *'भय बस'* शिवजीसे दुराव किया तो उनका दोष क्या? यह तो मायाकी प्रेरणासे हुआ; यथा—*'बहुरि राममायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा॥'* (१। ५६। ५) कोई किसीसे जबरदस्ती झूठ कहलावे तो वह झूठ पाप कैसे? फिर शिवजी स्वयं कहते हैं कि *'परम पुनीत न जाइ तजि······॥'* (१। ५६)। सतीजी ऐसी पतिव्रता हैं, परम पवित्र हैं। यह भाव *'सती असि नारी'* विशेषणसे भी झलकता है कि सतीत्वमें कलङ्क लगानेवाला कोई बाधक अर्थात् दोष नहीं था। इसमें यदि यह कहा जाय कि सभी जीव तो मायावश ही पाप आदि करते हैं तब तो उन सबको ही दोष नहीं लगना चाहिये तो इसका एक समाधान यह किया जाता है कि शिवजीका भाव सम्भवत: यह है कि जैसे किसी पाषाण आदिका विग्रह बने और उसकी प्रतिष्ठा होनेके पश्चात् वह विग्रह खण्डित हो जाय तो उस पाषाणको किसी अन्य काममें नहीं लाया जाकर उसे पुण्य नदियोंमें विसर्जन कर दिया जाता है; जिसका अभिप्राय यह है कि दूसरा भी उसे काममें न लावे; इसी प्रकार सतीजीके जिस शारीरिक तत्त्वमें श्रीसीताजीका आकार अर्थात् रूप प्रकट हुआ वह आकार नष्ट होने (बदलने) पर भी उस मूल शारीरिक तत्त्वको काममें लाना उचित नहीं है। क्या इतना उच्च भाव कोई धारण कर सकता है? इसीसे श्रीयाज्ञवल्क्यादिने उनकी प्रशंसा की हैं।

अथवा, सतीजीका दोष तो था ही जैसा सतीजीने स्वयं *'निज अघ'* आदिसे कई जगह जनाया है, परंतु '**पश्चात्तापेन शुद्ध्यति**' इस वाक्यानुसार पश्चात्तापसे उनकी शुद्धि हो गयी थी।

इन उपर्युक्त विचारोंके अनुसार सतीजीको स्मृतिकार श्रीयाज्ञवल्क्यजीने *'बिनु अघ'* निष्पाप ही निश्चय किया, दूसरा चाहे उनमें पापका आरोप भले ही करे। और, बिना अपराधके त्यागमें ही शिवजीकी भक्तिकी परमोच्च भावना और उनके चरितकी परम स्वच्छता प्रकट हो रही है।

बैजनाथजी ठीक ही लिखते हैं कि 'भागवत-धर्म' की गति बड़ी सूक्ष्म है। असली माता-पिताके दर्शन-स्पर्शसे धर्ममें बाधा नहीं होती; यथा—*'लीन्ह लाइ उर जनक जानकी।'*, *'बार बार मुख चुंबति माता'*, इत्यादि। राजा, मित्र' श्वशुर, गुरु और इष्ट इनकी स्त्रियोंमें माताभाव मानना चाहिये; परंतु इनमें मानसी सम्बन्धकी चेष्टा दर्शाना इस भावनामें धर्मकी बड़ी ही सूक्ष्म गति है क्योंकि जिनमें माता-भाव रखा जाता है, पर जो असली माता नहीं हैं, उनके एकमात्र चरणोंका ही दर्श-स्पर्श उचित माना गया है, सर्वाङ्गका नहीं। देखिये लक्ष्मणजीने अम्बा श्रीजानकीजीके आभूषण देखकर यही कहा था कि '**नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले॥ नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।**' (वाल्मी० ४। ६। २२-२३) ऐसे भागवत-धर्मके भावका निर्वाह दुर्घट है, क्योंकि थोड़ेहीमें संसार दूषण लगाता है। सतसईमें कहा भी है—*'अपनस जोग कि जानकी मनि चोरी की कान्ह। तुलसी लोक रिझाइबो करसि कातिबो नान्ह॥'* धर्मको परम स्वच्छ अमल रखनेके लिये बहुत सफाईसे काम करनेकी आवश्यकता होती है। श्रीभरतजीने ऐसा ही किया तभी तो उनका निर्मल यश जगमगा रहा है।—परंतु सफाईका व्यापार जैसा भरतजी और शिवजीका हुआ वह कुछ प्रभुको रिझानेके लिये नहीं किया गया, क्योंकि प्रभु तो सर्वज्ञ हैं, अन्तर्यामी हैं, वे तो सच्चे प्रेमसे रीझते हैं, जो इनमें स्वाभाविक ही परिपूर्ण है। इन्होंने अपने धर्मकी अमलताहेतु सतसईके वाक्यानुसार *'नान्ह काता।'*

श्रीशिवजीका भक्तिभाव बड़ा ही गूढ़ और सूक्ष्म है। उनका श्रीसीताजीमें माताभाव है। वे अपने आचरणसे उपदेश दे रहे हैं कि इष्टकी परछाहींपर भी दृष्टि न डालनी चाहिये। श्रीरघुपति-स्नेहको अमल और निर्दूषित रखनेके लिये ही उन्होंने परम सती पत्नीका त्याग किया। वस्तुत: यहाँ पापका कोई प्रयोजन नहीं।

शिवजीको छोड़ भक्तिपक्षमें इतना सावधान कौन होगा कि केवल कुछ क्षणोंके लिये और वह भी परीक्षार्थ सीताजीका वेषमात्र बना लेनेसे सतीजीमें माताभाव कर लिया तथा पत्नीभाव स्थित रखनेमें

अपने भक्तिपथको दूषित और कलंकित समझा? यथा—*'जो अब करौं सती सन प्रीती। मिटै भगति पथु होइ अनीती॥'* (१। ५६। ८) धन्य! धन्य!! धन्य!!! क्यों न हो, जगत्के आचार्यके योग्य ही है। इसीसे तो गोस्वामीजीने उनको **'मूलं धर्मतरोः'** कहा है।

☞ उपदेश—यहाँ भक्तोंको बड़ा भारी उपदेश है। प्रथम तो यह कि भगवद्विमुखसे प्रीति न करे। दूसरे यह कि लीला-स्वरूपमें भी भगवद्भाव रखे। किसीमें प्रभुका कोई गुण देखकर उसमें वह भावना रखनेसे भक्ति दृढ़ होती है। यह बात श्रीशिवजीने अपने आचरणसे ही दिखा दी है। वर्तमान समयके महात्मा श्रीमधुसूदनाचारी (मधुप अली) चँदवारा, ग्राम-जिला बाँदाके, योगिराज बाबा मोहनदासजी फतेहपुरनिवासी और नवलवर-उपासक भक्तप्रवर श्रीरामाजी खेड़ायनिवासी, जिला सारनके चरित्र इस समय भी जीते-जागते उदाहरण हैं। इस संस्करणके समय इनमेंसे दोका साकेतवास हो चुका है। श्रीविभीषणजीकी भक्ति भक्तमालमें देखनेयोग्य है कि मनुष्यको देख उसमें श्रीरामजीका भाव ले आये कि हमारे सरकार भी नराकार ही हैं। ☞श्रीशिव-पार्वतीजीका नित्य संयोग है। भक्तोंमें श्रीरामभक्ति दृढ़ करनेके हेतु ही, यह सब लीला हुई है।

श्रीजानकीशरणजीने उपर्युक्त विचारोंका खण्डन किया है। वे लिखते हैं—'सतीजी तो' *'बिनु अघ'* किसी प्रकार कही जा ही नहीं सकतीं। क्या परपतिमें पापबुद्धि लाना ही पाप है? और पाप पाप नहीं कहा जाता? सतीजीमें एक पाप कौन कहे अनेकों पाप प्रमाणित हैं। देखिये पतिव्रताका धर्म है—पति-वचनमें विश्वास रखना……। सतीजीको *'लाग न उर उपदेस जदपि कहेउ सिव बार बहु',* जिसके लिये स्वयं शिवजी सोचते हैं—*'मोरेहु कहे न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥'* सतीसे जो कर्म हुआ, पतिके वचनको नहीं मानना, उसका फल भी शिवजीने अनुमान किया और वही हुआ भी, तो क्या बिना अघके भी दुःख होता है? पुनः, दशरथनन्दन परब्रह्म परमात्माको प्राकृत मनुष्य करके मानना, कहना और इस कथनको सुनना, इसपर शंकरजीने पार्वतीजीसे कहा था, यथा—*'तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहि मुनि ध्याना॥ कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच। पाखंडी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साँच॥'* इत्यादि। क्या ऊपरके अपराधियोंको निष्पाप ही समझा जावे? पुनः जब सतीके अनुमानसे श्रीरामजी मनुष्य ही ज्ञात हो रहे थे तो विरही मनुष्य जिसकी पत्नी खो गयी है उस दशामें उसकी पत्नीका रूप धारण करके उसके निकट जाना क्या पतिव्रताका कर्म है? इतनेपर भी सतीको अघयुत कहनेमें सब लोग क्यों सकुचाते हैं? परीक्षा पानेपर लौटकर शिवजीके पास आनेपर सतीने शिवजीसे मिथ्या कहा, यथा—*'कछु न परीच्छा लीन्ह गोसाईं। कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहि नाईं॥'* क्या मिथ्या बोलना अघ नहीं है? *'नहिं असत्य सम पातक पुंजा'* का क्या भाव होगा? सतीजीके मिथ्या भाषणपर शिवजीका विचारना—*'बहुरि राम मायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहिं जेहि झूठ कहावा॥'*

'जो लड़के लीलारूप बनते हैं वह परीक्षार्थ नहीं, भ्रमवश नहीं, बल्कि प्रेमवश। सतीजीका सीतारूप बनना प्रेमवश तथा भक्तिवश माना जायगा तो ऐसी भक्ताके लिये शिवजी नहीं कहते कि *'किये प्रेम बड़ पाप।'* भगवान् कृष्णके विरहमें गोपिकाएँ कृष्णचरित्र करने लगीं, कोई कृष्ण बनी, कोई राधिका आदि, इसी भक्तिपर भगवान् प्रकट हो गये। और सती तो *'भ्रमबस बेष सीय कर लीन्हा'।* उसका फल भी देखिये *'सियबेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरी।'* और स्वरूप बननेवाले लड़कोंको माता-पिता दण्ड देते हैं, वह अन्याय करते हैं। लीलानुकरण-पद्धतिमें लिखा है कि जैसे अर्चा-विग्रहका पूजन-विधान होता है उसी प्रकार लीलारूपका भी चाहिये अर्थात् जितने वर्षतक लड़के लीलारूप बनें तबतक उनके साथ लौकिक सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये तब प्रभु स्वयं लीलारूपमें आवेश होकर प्रकट होते हैं, नहीं तो लीला नहीं बल्कि उनकी गीला होती है।

'मायाकी प्रेरणासे जीवको मोह होता है, इसमें जीवका क्या दोष? इसका समाधान—क्या भुशुण्डि, गरुड़, नारदादि ही मायाके वश मोहित हुए? मायाके वशमें सारा संसार ही है अर्थात् सब ही लोग परवश

हैं, इस सिद्धान्तसे किसीको पाप लगना नहीं चाहिये।'''कोई जबरदस्ती किसीसे झूठ कहलावे तो वह पाप कैसे?' समाधान—जिस समय यवनोंका अत्याचार भारतनिवासियोंके ऊपर हुआ था उस समय अनेकों भारतवासी हिंदुओंको यवनोंने जबरदस्ती गोमांस खिला दिया था और अपनी विधिसे मुसलमान बना दिया था, अनेकों आदरणीया भारतनिवासिनी सती स्त्रियोंके साथ बलात्कार किया था, पुनः यवनी बना दिया, क्या यह सब पाप नहीं गिना जायगा? मूलके पाठको लोगोंने बदल दिया है ***'परम प्रेम नहिं जाइ तजि'''*** में प्रेमकी जगहपर ***'पुनीत'*** कर दिया है।

'यद्यपि ऐश्वर्यमें शिव-पार्वतीजीका नित्य संयोग है, तथापि भक्तिको दृढ़ानेहेतु शिवजीने माधुर्य-लीला मर्यादा-पालनके हेतु की है। सो भी निज सिद्धान्तसे नहीं, निज इष्टदेव श्रीरामचन्द्रजीकी सम्मतिसे, यथा—***'सुमिरत राम हृदय अस आवा। यह तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।'*** यदि सती निष्पाप होतीं, तो उनके साथ प्रेम करनेमें पाप कैसा? यथा—***'किये प्रेम बड़ पाप।'*** (मा० अ० दी० चक्षु)

प० प० प्र०—सतीजीने यद्यपि असत्य-भाषण और पतिसे कपट किया तथापि वह उनकी निज बुद्धिसे नहीं हुआ। यह राममायाकी प्रेरणासे हुआ—***'प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा'।*** किसीको गुप्त रीतिसे मदिरा पिलानेपर वह यदि असत्य-भाषणादि पाप करे तो यह मानना कि उसने यह पाप किया महादोष है। ☞ यहाँ यह उपदेश मिलता है कि सती-सदृश पतिव्रता या नारद एवं गरुड़-समान किसी सन्तसे जब उनके स्वभावविरुद्ध कोई दोष या पाप इत्यादि हो जाता है, तब उसकी चर्चा करना दूसरोंके लिये सन्त-निन्दा करनेके समान है। दूसरोंके दोषोंके विषयमें उदासीन रहना ही हितकर है। पाप हुआ या नहीं और किसने किया इसका निर्णय करना अति दुष्कर है। ***'कठिन करम गति जान बिधाता'*** ऐसा समझकर भगवान्‌का स्मरण करना ही श्रेयका मार्ग है। जिससे पाप हुआ उस दोषभाजन या पापकर्ताको पश्चात्तापसे दग्ध होकर पाप-प्रक्षालनके लिये भगवच्छरणागति और भगवन्नामाश्रय ग्रहण करना आवश्यक है। वह कभी ऐसा न मान ले कि हरिमायाकी प्रेरणासे ही ऐसा हुआ, क्योंकि हरिमायाकी करनीको जानना अति अगम्य है।

टिप्पणी—२ (क) ***'सती असि नारी'*** इति। भाव कि सतीजी पतिव्रताशिरोमणि हैं, उनपर शिवजीका अत्यन्त प्रेम है तथा वे अत्यन्त सुन्दरी हैं; यथा—***'पतिदेवता सुतीय महुँ मातु प्रथम तव रेख। महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेष॥'*** (१। २३५) ***'सदा संभु अरधंग निवासिनि', 'जनमीं प्रथम दक्ष गृह जाई। नामु सती सुंदर तनु पाई॥'*** (१। ९८। ३,५) वे ऐसी थीं कि उनका त्याग करना कठिन और असह्य था, यथा—***'परम पुनीत न जाइ तजि किएँ प्रेम बड़ पापु। प्रगटि न कहत महेस कछु हृदय अधिक संतापु॥'*** (१। ५६) ***'दुखी भयउँ बियोग प्रिय तोरें।'*** (७। ५६। ५)—ऐसी उन सतीजीको भी 'रघुपतिव्रत' के रक्षणार्थ त्याग दिया।

(ख) ***'पनु करि रघुपति भगति देखाई'*** इति। अर्थात् सतीजीके त्यागकी प्रतिज्ञा करके रघुनाथजीके चरणोंमें जो उनका प्रेम था वह उन्होंने प्रकट कर दिया। ***'देखाई'*** का भाव कि शिवजीकी भक्ति गुप्त थी, दूसरेको दिखाती न थी, श्रीशिवजीने अपने कर्म (आचरण) द्वारा दिखाया कि ऐसी भक्ति करनी चाहिये, श्रीरघुपतिभक्तिका आदर्श यह है। (ग) ***'को शिव सम रामहि प्रिय',*** यथा—***'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। असि परतीति तजहु जनि भोरें॥'*** (१। १३८। ६) (ये भगवान्‌के वचन हैं) (घ)—***'भाई'*** सम्बोधन की रीति है। विशेष भाव पूर्व आ चुके हैं।

दो०—प्रथमहि मैं कहि शिवचरित बूझा मरमु तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त विकार॥ १०४॥

अर्थ—मैंने प्रथम ही श्रीशिवजीका चरित कहकर तुम्हारा भेद ले लिया। तुम श्रीरामचन्द्रजीके सम्पूर्ण दोषोंसे रहित पवित्र सेवक हो॥ १०४॥

टिप्पणी—१ ***'प्रथमहि'''तुम्हार'*** इति। इससे पाया गया कि शिवविमुखको श्रीरामचरित न सुनाना चाहिये। याज्ञवल्क्यजीने भरद्वाजजीका मर्म लेनेके लिये प्रथम शिवचरित कहा, इसीसे गोस्वामीजीने प्रथम रामभक्तका

चरित्र कहकर तब रामचरित कहा। ऐसा करके उन्होंने सबको यह दिखाया कि हमको भी गौरीश प्राणोंके समान प्रिय हैं।

नोट—१ *'सुचि सेवक''' '* इति। *'सुचि'* और *'रहित समस्त विकार'* से तात्पर्य उन दोषोंसे है जो ऊपर चौ० ३—८में कहे गये हैं। अर्थात् शिवभक्ति और श्रीरामभक्तिमें भेदभाव रखना, परम भागवत श्रीशिवजीके चरित और श्रीरामचरितमें भेद-बुद्धि रखना इत्यादि विकार हैं। श्रीशिवजीके चरितमें वैसा ही प्रेम रखना जैसा श्रीरामचरितमें, यह श्रीरामसेवकको शुचिता है। श्रीशिवजीसे द्रोह करना और श्रीरामजीके सेवक बनना यह अशुचिता है। जो शिवद्रोही हैं वे श्रीरामजीके शुचि सेवक नहीं हैं। *'सुचि सेवक तुम्ह राम के''' '* का भाव कि शिवजीके चरणकमलोंमें तथा उनके चरितमें तुम्हारा वैसा ही प्रेम है जैसा श्रीराम-चरण-कमल और उनके चरितमें। कैसे जाना? यह पूर्व कह आये—*'नयन नीरु रोमावलि ठाढ़ी। प्रेमबिबस मुख आव न बानी। दसा देखि हरषे मुनि ग्यानी॥'* शिवचरित सुननेपर उनकी यह प्रेमकी दशा प्रत्यक्ष देखी। दूसरे, इससे कि उन्होंने श्रीराम-कथा विस्तारसे कहनेकी प्रार्थना की थी, यथा—*'कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी।* (१।४७।१) और याज्ञवल्क्यजीने कहा भी—*'तात सुनहु सादर मन लाई। कहहुँ राम कै कथा सुहाई॥'* (१।४७।५) पर यह प्रतिज्ञा करके भी रामचरित न कहकर शिवचरित कहने लगे, तो भी वे सावधानतापूर्वक सुनते रहे, कहीं टोका भी नहीं, यह भी न कहा कि मैंने तो रामकथा पूछी और आप कहने लगे शिवचरित। इत्यादि। वरंच शंभुचरित सुनकर अत्यन्त सुखको प्राप्त हुए। ☞ उत्तम श्रोताके यही लक्षण हैं। २—पंजाबीजीका मत है कि *'सुचि'* से निष्काम और *'रहित विकार'* से निर्दम्भ सूचित किया। भाव कि जो सकाम और दम्भी होते हैं वे एकान्तमें गुरुजनोंसे प्रश्न करके उनको उत्तर देनेमें सावधान करते हैं और उनके हृदयमें गुह्य आशा यह रहती है कि ये बड़े प्रामाणिक वक्ता हैं, हमारे पास इनके रहनेसे हमारी महिमा प्रसिद्ध होगी, इत्यादि वासनाकृत विकार तुममें नहीं पाये जाते। और बैजनाथजी *'विकार'* से कामादिका ग्रहण करते हैं।

मैं जाना तुम्हार गुन सीला। कहौं सुनहु अब रघुपति लीला॥ १॥
सुनु मुनि आजु समागम तोरें। कहि न जाइ जस सुखु मन मोरें॥ २॥

शब्दार्थ—'**सीला**' (शील)=पवित्राचरण, सद्वृत्ति, स्वभाव। यथा—'**शीलं स्वभावे सद्वृत्ते।**' (अमरकोश ३। ३। २००) '**अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्यते॥**' (अमर-टीका शीलनिरूपणाध्याय), '**शुचौ तु चरिते शीलम्।**' (अमरकोश १।७।२६) लीला=चरित। मनुष्यके मनोरञ्जनके लिये किये हुए ईश्वरावतारोंका अभिनय। वह व्यापार जो चित्तकी उमंगसे केवल मनोरञ्जनार्थ किया जाय। **समागम**=सम्मिलन, मिलनेसे, सत्सङ्गसे।

अर्थ—मैंने तुम्हारा गुण और शील जान लिया। अब मैं श्रीरघुनाथजीकी लीला कहता हूँ, सुनो॥ १॥ हे मुनि! आज तुम्हारे समागमसे जैसा कुछ सुख मेरे मनमें हुआ है वह कहा नहीं जा सकता॥ २॥

टिप्पणी—१ *'मैं जाना तुम्हार गुन सीला।''' '* इति। (क) भाव कि आप समस्त विकारोंसे रहित समस्त गुणोंसे युक्त हैं, यथा—*'संत हंसगुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार।'* (ख) ☞ प्रथम श्रोताके सब लक्षण भरद्वाजजीमें कहकर तब कथा सुनानेको कहते हैं। श्रोताके लक्षण उत्तरकाण्ड दोहा ६९ *'श्रोता सुमति सुसील सुचि कथारसिक हरिदास। पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास॥'* में दिये हैं। ये सब लक्षण इनमें हैं (१)—*सुमति,* यथा—*'मैं जाना तुम्हार गुन।'* सुमति आदि गुण हैं। [*सुमति,* यथा—*'संभु चरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुख पावा॥'* (वि० त्रि०)] (२) *सुशील,* यथा—*'मैं जाना तुम्हार गुन सीला।'* (३) *शुचि,* यथा—*'सुचि सेवक तुम्ह रामके रहित समस्त बिकार'।* (४) कथारसिक, यथा—*'बहु लालसा कथा पर बाढ़ी।'* (५) हरिदास—*'सुचि सेवक तुम्ह राम के'''।'* (ग) *'कहौं सुनहु अब'* इति। 'अब' का भाव कि हमने प्रथम रामचरित कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, यथा—*'तात सुनहु सादर मनु लाई। कहहुँ राम कै कथा सुहाई॥'* (१।४७।५) पर बीचमें तुम्हारा मन लेनेके लिये शिवचरित

कहने लगा था। अब रघुपतिचरित कहता हूँ। पुनः, दूसरा अभिप्राय यह है कि तुम शिवभक्त हो, रामभक्त हो, तुम्हारे चित्तमें कुतर्क नहीं है, तुमको रघुपतिलीला अत्यन्त मधुर लगेगी। यथा—*'हरिहरपद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की॥'* (१। ९। ६) अतएव 'अब' कहता हूँ, सुनो। पुनः, भाव कि उत्तम अधिकारी श्रोताके सब लक्षण तुममें परीक्षा करके देख लिये, अतः अब कहता हूँ, क्योंकि अनधिकारीसे न कहना चाहिये। [आसुरी सम्पत्तिवालोंको सुनानेसे उनका अकल्याण होता है; यथा—*'अस रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥'*; अतः कथा कहनेके पहले यह समझ लेना चाहिये कि इससे सुननेवालेकी हानि तो नहीं होगी, तब कथा कहनी चाहिये। सतीपर बड़ी विपत्ति कथाके अनादरसे आयी। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ *'सुनु मुनि आजु समागम तोरें।'''''* इति। (क) *'आजु समागम तोरें'* से जनाते हैं कि यह सब शिवचरित *'जागबलिक मुनि परम बिबेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी॥'* (१। ४५। ४) से *'संभुचरित सुनि सरस सुहावा।''दसा देखि हरषे मुनि ग्यानी॥'* (१। १०४। ३) तक; एक ही दिनमें याज्ञवल्क्यजीने भरद्वाजजीको सुनाया था। पुनः भाव कि समागम तो पूर्व भी प्रतिदिन होता ही रहा और सुख भी मिलता रहा, परंतु आजके समागमसे बड़ा सुख हुआ। तथा—आजका-सा सुख पूर्व कभी नहीं मिला था। (ख) संतसमागमसे सुख होता ही है, यथा—*'संत मिलन सम सुख जग नाहीं।'* (७। १२१। १३) *'आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन॥'* (७। १२३) (ग) ☞भरद्वाजजीका सुख प्रथम कह आये, यथा—*'संभुचरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुख पावा॥'* अब इस चौपाईमें याज्ञवल्क्यजीका सुख वर्णन करते हैं—*'कहि न जाइ जस सुख मन मोरें।'* इस प्रकार अन्योन्य सुख वर्णन किया। (घ) श्रोता और वक्ता दोनोंने शिवचरितसमुद्रमें स्नान किया; यथा—*'चरितसिंधु गिरिजारमन बेद न पावहिं पारु।'* (१०३) चरित कहने-सुननेसे सुख होना 'स्नान' करना है। यथा—*'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥'* (१। ४१। ६) (ङ) ☞ स्मरण रहे कि सुन्दर वक्ता पाकर श्रोताको सुख होता है और सुन्दर श्रोता पाकर वक्ताको सुख होता है। यथा—

(१) शिवजी (वक्ता)—*'प्रश्न उमा कै सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई॥'* (१। १११। ६)
'उमा प्रश्न तव सहज सुहाई। सुखद संत संमत मोहि भाई॥' (१। ११४। ६)

श्रीउमाजी (श्रोता)—*'नाथ कृपा अब गएउ बिषादा। सुखी भएउँ प्रभु चरन प्रसादा॥'* (१। १२०। ३)

(२) भुशुण्डिजी (वक्ता)—*'सुनत गरुड़ कै गिरा बिनीता। सरल सुप्रेम सुखद सुपुनीता॥ भएउ तासु मन परम उछाहा।'*(७। ६४) *'पुलक गात लोचन सजल मन हरषेउ अति काग।'* (७। ६९)

गरुड़जी (श्रोता)—*'मोह जलधि बोहित तुम्ह भए। मो कहँ नाथ बिबिध सुख दए॥'* (७। १२५)

(३) तथा—यहाँ—याज्ञवल्क्यजी—*'कहि न जाइ'''।'* भरद्वाजजी—*'अति सुख पावा।'*

(ङ)—*'कहि न जाइ'* से जनाया कि अपूर्व एवं अकथनीय आनन्द मिला।

रामचरित अति अमित मुनीसा। कहि न सकहिं सतकोटि अहीसा॥ ३॥
तदपि जथा श्रुत कहौं बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनु पानी॥ ४॥

शब्दार्थ—**अहीसा** (अहि ईश)=सर्पराज श्रीशेषजी। **जथा** (यथा)=जैसा। **श्रुत**=सुना हुआ; ज्ञात। जथाश्रुत (यथाश्रुत) एक शब्द है। यथाश्रुत (सं०)=**'श्रुतम् अनतिक्रम्य वर्तते इति यथाश्रुतम्'** अर्थात् जो सुने हुएके बाहर नहीं। तात्पर्य कि जो या जैसा सुना हुआ है। **गिरापति**=वाणीके स्वामी (प्रेरक); विशेष—मं० श्लो० १ में देखिये। **धनुपानी**=धनुपाणि=हाथमें धनुष धारण किये हुए, यथा—*'जब उर बसहिं राम धनुपानी।'*

अर्थ—हे मुनीश्वर! रामचरित अत्यन्त अपार है। सौ करोड़ शेष (भी उसे) नहीं कह सकते॥ ३॥ तो भी वाणीके स्वामी, हाथोंमें धनुष (बाण) धारण करनेवाले प्रभु श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करके जैसा सुना है वैसा बखानकर कहता हूँ॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'रामचरित अति अमित''''''* इति। (क) प्रथम शिवचरितको सिन्धु कह आये, अब

श्रीरामचरितकी बहुतायत कहते हैं। तात्पर्य कि भक्त और भगवान् दोनोंके चरित अनन्त हैं। अनन्तता वा अपरिमेयत्व दूसरे चरणमें दिखाते हैं कि *'कहि न सकहिं सतकोटि अहीसा'।* (ख) *'अति अमित'* कथनका तात्पर्य यह भी है कि हम इसे प्रभुके प्रसन्न होनेके लिये ही कहते हैं; कुछ समासिके विचारसे नहीं कहते। यथा—*'एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं। प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥'* (७। ९२) *'बुध बरनहिं हरिजस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी॥'* (१। १३। ८) *'राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।'''।'* (१। ३३) *'जल सीकर महि रज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥'* (७। ५२। ४) इत्यादि *'अति अमित'* के प्रमाण हैं। [(ग) जबतक इनका मर्म नहीं जान लिया कि ये शिव-विमुख नहीं हैं तबतक 'मुनीश' सम्बोधन नहीं दिया था। यथा—*'कहौं सो मति अनुहारि अब'''सुनु मुनि मिटिहि बिषाद।'* (१। ४७) शम्भुचरितमें प्रेम देख सच्चा रामभक्त जाना तब 'मुनीश' सम्बोधन भी देने लगे। यथा—*'अहो धन्य तव जन्मु मुनीसा।', 'रामचरित अति अमित मुनीसा'।*] (घ)*'कहि न सकहिं सतकोटि अहीसा।'* इति। भाव यह कि जब सौ करोड़ शेष एकत्र होकर कहें तो भी कह नहीं सकते तब एक मैं मनुष्य क्या कह सकता हूँ। पुनः, शेषजीके दो हजार जिह्वाएँ हैं, उसपर भी करोड़ों शेष! और मेरे तो एक ही जीभ है तब मैं कैसे कह सकता हूँ? (ङ) शतकोटि शाखासे वेद शम्भुचरित कहते हैं पर पार नहीं पाते—*'चरित सिंधु गिरिजारमन बेद न पावहिं पार।'* यह भागवत-चरितकी अनन्तता है। शतकोटि अहीश रामचरित नहीं कह सकते, क्योंकि *'नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सतकोटि अपारा॥', 'रामचरित सतकोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनै पारा॥'* (७। ५२। २) अपारका पार कहाँ?—यह रामचरितकी अनन्तता है।

टिप्पणी—२ *'तदपि जथा श्रुत कहौं''''''* इति। (क) ऐसा ही अन्य सभी वक्ताओंने कहा है। यह बड़े लोगोंके कथनकी रीति है। यथा—

श्रीशिवजी—*'तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी॥'* (१। ११४। ५)

भुशुण्डिजी—*'राम अमित गुनसागर थाह कि पावइ कोइ। संतन्ह सन जस किछु सुनेउँ तुम्हहिं सुनाएउँ सोइ॥'* (७।९२)

तुलसीदासजी—*'मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत।'* (१।३०)

[भेद केवल इतना है कि भगवान् याज्ञवल्क्य यथाश्रुत कहनेमें समर्थ हैं, यथा—*'ते श्रोता बक्ता समसीला। सबदरसी जानहिं हरिलीला॥'* और दीन घाटके वक्ता यथाश्रुत कहनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं। यथा—*'किमि समझौं मैं जीव जड़ कलिमल ग्रसित बिमूढ़॥ तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥ भाषाबद्ध करब मैं सोई।'* (वि० त्रि०)]

(ख) गोस्वामीजीने अपने गुरुजीसे सुनी। शिवजीने महर्षि अगस्त्यजीसे सुनी, यथा—*'रामकथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी॥'* (१।४८।३) भुशुण्डिजीने शिवजीसे सुनी, यथा—*'सो सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा।'* (१। ३०। ४) और याज्ञवल्क्यजीने भुशुण्डिजीसे सुनी—*'तेहि सन जागबलिक पुनि पावा।'* (१। ३०) (ग) *'कहौं बखानी'* अर्थात् विस्तारपूर्वक कहूँगा। (घ) *'सुमिरि गिरापति''''* इति। श्रीरामचरित कहनेके लिये *'गिरापति'* का स्मरण किया, यह बात वे स्वयं आगे कहते हैं—*'जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी''' ॥'* कौन गिरापति? धनुपाणि अर्थात् धनुषधारी, धनुर्धर शार्ङ्गधर। कौन धनुषधारी? *'राम सूत्रधर अंतरजामी।'* कौन राम? वह जो 'प्रभु' अर्थात् राजा हैं, अथवा, 'गिरा' को प्रेरण करने और विघ्न दूर करनेमें समर्थ हैं, धनुष-बाण लिये हुए विघ्नोंसे रक्षा करते हैं, गिराको प्रेरित करनेवाले हैं। श्रीरामजीको *'गिरापति'* कहा, यह बात आगेके *'प्रनवौं सोइ कृपाल रघुनाथा'* से स्वयं कविने स्पष्ट कर दी है।

नोट—१ पाँड़ेजी *'गिरापति प्रभु'* ऐसा मानकर अर्थ करते हैं। अर्थात् सरस्वतीके पति ब्रह्माजीके स्वामी धनुर्धर श्रीरामचन्द्रजी। गिरापति=ब्रह्माजी; यथा—*'ईस न गनेस न दिनेस न धनेस न सुरेस*

सुर गौरि गिरापति नहि जपने।' (क० ७। ७८) और प्रभु श्रीरामजी गिरापति हैं, इसके प्रमाण ये हैं—*'ब्रह्म बरदेस बागीस ब्यापक बिमल बिपुल बलवान निर्बान स्वामी।'* (वि० ५४) *'बेद बिख्यात बरदेस बामन बिरज बिमल बागीस बैकुंठस्वामी।'* (वि० ५५) *'बरद बनदाभ बागीस विश्वात्मा बिरज बैकुंठ मंदिर बिहारी॥'* (वि० ५६)—विशेष मं० श्लो० १ में 'वाणी' पर टिप्पणी देखिये। १। ११। ७ भी देखिये। रा० प्र०—कार और पंजाबीजी *'गिरापति' 'धनु पानी'* का भाव यह लिखते हैं कि आप वाणीको रसनापर स्थित कर देंगे और जो कुछ कहना उचित होगा उसे कहला देंगे, जो कहते न बनेगा उसे ठीकसे कहला लेंगे। पुनः, यशकथनमें अनेक विघ्न होते हैं, उनको भी निवारण करेंगे। इस भावकी पुष्टि *'कबि उर अजिर नचावहिं बानी'* अगली चौपाईसे होती है। (रा० प०) पुनः, *'गिरापति प्रभु'* के स्मरणका भाव कि जो कठपुतलीके नाचको यथार्थतः नेत्रसे देखना चाहे अर्थात् यह देखना चाहे कि किस प्रकार काठकी पुतली नाचती और बोलती है तो उसके स्वामी सूत्रधरका सम्मान करे, तब वह तमाशेका सार दिखलाकर तुष्ट करेगा, वैसे ही वाणीके सूत्रधर तथा स्वामी श्रीरामजी हैं, उनकी अनुकूलतासे वाणीका यथार्थ नृत्य प्रदर्शित होगा, अतएव *'गिरापति'* कहा। (मा० म०) भाव यह कि जैसे कठपुतलीका नाच देखनेका इच्छुक कठपुतलीसे न बोलकर उसके सूत्रधरका ही सम्मान करता है वैसे ही यहाँ कथा कहनेमें वाणीका स्मरण न करके उसके सूत्रधर नचानेवाले स्वामी श्रीरामजीका ही स्मरण करके कथा प्रारम्भ करते हैं; इनकी अनुकूलतासे वाणी यथार्थ रीतिसे हृदयमें नाचेगी।

वि० वि० का मत है कि 'रामसच्चिदानन्दकी तीन शक्तियाँ हैं। सत् शक्ति (महालक्ष्मी), चित् शक्ति (महासरस्वती) और आनन्द शक्ति (महाकाली)। इस भाँति रामजी गिरापति हैं।

नोट—२ रामचरितको *'अति अमित'* कहकर फिर उसीको यह कहकर प्रतिपादन करना कि यथाश्रुत कहूँगा 'निषेधाक्षेप अलङ्कार' है। यथा—*'पहिले करै निषेध जो फिर ठहरावै ताहि। कहत निषेधाक्षेप तेहि कबिजन सकल सराहि॥'* (अ० मं०)

सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥ ५॥
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥ ६॥

शब्दार्थ—**दारु नारि**=लकड़ीकी बनी हुई स्त्री=कठपुतली। **सूत्रधर**=सूत्र (=सूत, तार) ☞ धार=कठपुतरीको सूत्र पकड़कर नचानेवाला। **अजिर**=आँगन। **जनु** (जन)=दास; भक्त।

अर्थ—सरस्वतीजी कठपुतलीके समान हैं। अन्तर्यामी स्वामी श्रीरामजी सूत्रधर हैं॥ ५॥ अपना जन जानकर जिस कविपर वे कृपा करते हैं उसके हृदयरूपी आँगनमें वाणीको नचाते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'सारद दारु नारि…'* इति। (क) कठपुतलीका स्वामी होता है जो उसे सूत्र धरकर नचाता है। यहाँ श्रीरामजी शारदाके स्वामी हैं, अन्तर्यामीरूपसे उसे नचाते हैं। तात्पर्य कि अन्तर्यामी श्रीरामजी शारदाके स्वामी हैं, शारदाको प्रेरित करते हैं। दाशरथि श्रीरामजी एकपत्नीव्रत श्रीसीताजीके ही स्वामी हैं, इसीसे अन्तर्यामीरूप पृथक् कहा। वाणी जड़ है, अन्तर्यामी प्रेरणा करता है तब निकलती है, इसीसे वाणीको कठपुतलीके समान कहा; यथा—*'बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥'* (१। ११७)—('स्वामी' कहकर यह भी जनाया कि मेरे ही स्वामी सरस्वतीके नचानेवाले हैं, अतः मुझपर कृपा करके वे उसे अच्छी तरह नचावेंगे।) (ख) *'अंतरजामी'* का भाव कि कठपुतलीको नचानेवाला छिपकर बैठता है और सूत्रपर कठपुतलीको नचाता है तथा श्रीरामजी अन्तर्यामी रूपसे वाणीको नचाते हैं। ये भी छिपे बैठे हैं, अन्तर्यामी रूप देख नहीं पड़ता। *'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥'* (४।११।७) इस चौपाईमें ग्रन्थकारने श्रीरामजीका अन्तर्यामी रूपसे सबको नचाना कहा ही है! (गीतामें भी कहा है) **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥' (१८। ६१) अर्थात् शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। भा० १। ६। ७ में भी कहा है '**ईशस्य हि वशे लोके योषा दारुमयी यथा**' अर्थात् कठपुतलीके समान यह सम्पूर्ण लोक ईश्वरके वशीभूत है। (ग) यहाँ नचानेवाला, नाचनेवाला और नचानेका स्थान तीनों उत्कृष्ट हैं—श्रीरामजी ऐसे नचानेवाले, शारदा ऐसी कठपुतली और 'जन-उर' आँगन है।

नोट—१ '***राम सूत्रधर***' इति। ऊपर '***सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी***' में श्रीरामजीको '***गिरापति***' कह आये हैं, उसी अर्थको यहाँ पुनः ज्ञापकहेतुद्वारा युक्तिसे समर्थन किया है अर्थात् वाणीके सूत्रधर हैं, उसे नचाते हैं, इससे जान पड़ा कि वे उसके स्वामी हैं। अतः यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

नोट—२ कठपुतली तार या घोड़ेके बालके सहारे नचायी जाती है, जिसे 'सूत्र' कहते हैं। कठपुतलीको नचानेवाला 'सूत्रधर' परदेमें छिपकर बैठता है। वैसे ही सूत्रधर राम गोसाईं देख नहीं पड़ते। साधारण पुरुष केवल सरस्वतीकी क्रिया देखते हैं। सूत्र क्या है, इसमें मतभेद है।

बैजनाथजी कहते हैं कि 'अन्तर्यामीकी प्रेरणारूप सूत्र नाभिस्थान परावाणीमें लगा है'। फिर आगे चलकर वे लिखते हैं कि काव्यमें तीन कारण होते हैं—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। शक्ति (ईश्वरकी प्रेरणा) तो सूत्र है जिसे पकड़कर प्रभु वाणीको नचाते हैं, व्युत्पत्ति वाणीका वस्त्र और अभ्यास भूषण है। जैसे भूषण-वस्त्रसे कठपुतलीका नाच अच्छा लगता है वैसे ही व्युत्पत्ति, अभ्यास और शक्तिसे प्रकट वाणी भी भली लगती है।

मा० म० कार लिखते हैं कि 'वाणी' पाँच हैं—अतिपरा, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। यथा—'***क्रम ते बाणी पंच हैं लखो बैखरी माँझ। तुलसी पश्यन्ती परा परापरा पर माँझ॥***' (रामनामकला मणिकोश) सब वाणियोंका कारण अति परा है, उसका स्थान शिखा है। वही वाणी नाभिमें आनेसे परा कहलाती है, उस वाणीका सूत्र ब्रह्म है। वही वाणी हृदय, कण्ठ और जिह्वापर आनेसे क्रमसे पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहलाती है। उनके सूत्र सत्त्व, रज, तम हैं, 'अति परा' के कारण श्रीरामजी हैं, अतएव उनको सूत्रधर कहा। और जानकीशरणजी अ० दी० च० में लिखते हैं कि 'वाणी चार हैं—परा वाणी हृदयमें बसती है और सर्वगुणोंसे रहित है, पश्यन्ती हृदयके शिरोभागमें रहती है और सात्त्विकगुणसंयुक्त है, मध्यमा कण्ठमें और वैखरी मुखमें विराजती हैं और क्रमशः राजस-तामसगुण युक्त हैं। तीनों सूत्रों, सत्त्व, रज, तमकी सूत्रधर बिन्दुरूपा श्रीजनकनन्दिनी हैं क्योंकि वे त्रिगुणात्मिका कही जाती हैं। परन्तु पराका सूत्र रेफ है और रेफात्मक श्रीरामचन्द्रजी हैं, इसीसे ग्रन्थकारने उनको सूत्रधर कहा।'

श्रीकरुणासिन्धुजी वाणीके चार स्थान बताते हैं—परा, पश्यन्ती आदि। आद्या शक्ति वा त्रिदेवको पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीके सूत्रोंका और श्रीरामजीको परा वाणीके सूत्र (अन्तर्यामी ब्रह्म) का सूत्रधर बताते हैं।

श्रीगङ्गाप्रतापडींगरजी लिखते हैं कि किसी-किसीका अनुभव है कि इन वाणियोंके स्थान इस प्रकार हैं—वैखरीका जिह्वा, मध्यमाका कण्ठ, पश्यन्तीका त्रिकुटी और पराका मस्तक। विचारके पश्चात् ही वाणीका उपयोग होता है और विचारका केन्द्र मस्तक ही है तथा सब शक्तियोंका ही केन्द्र यही है। इससे परावाणीका स्थान भी यदि यही हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसपर 'कल्याण' के योगाङ्कमें एक लेख भी है—कुण्डलिनीके सम्बन्धमें।

उपर्युक्त महानुभावों तथा अबतकके टीकाकारोंमेंसे प्रायः किसीने भी कोई प्रमाण नहीं दिये हैं जिनके आधारपर उन्होंने वाणीके प्रकार और उनके स्थान लिखे हैं। हमने बहुत खोज करके '***भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई॥***' (१। ११। ४) में इस विषयपर प्रकाश डाला है। वाणी चार प्रकारकी है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। मूलाधारस्थ पवनसे संस्कारीभूत शब्दब्रह्मरूप स्पन्दशून्य बिन्दुरूप मूलाधारमें स्थित वाणीको 'परा वाणी' कहते हैं। वही परा वाणी जब उस पवनके साथ नाभिकमलतक आती है और वहाँ कुछ स्पष्ट (अभिव्यक्त) होनेपर मनका विषय होती है तब

उसको 'पश्यन्ती' कहते हैं। वही वाणी जब पवनके साथ हृदयतक आती है और कुछ अधिक स्पष्ट होती है परंतु श्रोत्रके द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता, केवल जपादिमें बुद्धिके द्वारा जाननेयोग्य होती है तब उसको मध्यमा कहते हैं। वही जब मुखतक आती है और श्रोत्रसे ग्राह्य होती है तब 'वैखरी' कही जाती है। विशेष १। ११। ४ में देखिये।

टिप्पणी—२ ***'जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी।'''''*** इति। (क) कठपुतलीवाला धनिक जानकर द्रव्यके लिये नचाता है, और श्रीरामजी 'जन' जानकर कृपा करके (अर्थात् जनसे कुछ चाहते नहीं) वाणीको नचाते हैं। [अथवा, कठपुतलीका स्वामी धनके लोभसे धनवान् देखकर तब नचाता है; वैसे ही श्रीरामजी प्रेम वा भक्तिरूपी धनका धनी देखकर अपने यशके विस्तार होनेके लोभसे एवं भक्त जानकर वाणीको नचाते हैं। कठपुतलीवाला निर्धनके यहाँ नहीं नचाता, वैसे ही श्रीरामजी भक्ति-धन-रहितके हृदयमें वाणीको नहीं नचाते, क्योंकि यहाँ निज-यश विस्ताररूपी लाभ नहीं होनेका। (अ० दी० च०)] (ख) ***'कृपा करहिं'*** से जनाया कि कृपा डोर है, यथा—***'कृपा डोरि बंसी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।'*** (वि० १०२) (ग) ☞ यहाँ ***'जनु जानि'*** और ***'कबि उर'*** दो नाम लिखते हैं। तात्पर्य कि जन और कवि दोनों हों तब उरमें नचाते हैं, केवल कवि हो जन न हो तो श्रीरामजी ऐसी वाणीको नहीं नचाते और यदि केवल जन ही है, कवि नहीं, तो भी वाणीको नहीं नचाते। पुनः, (घ) कृपा करनेमें 'जन' कहा, क्योंकि कृपा जनहीपर होती है और वाणीको नचानेमें 'कवि' शब्द देनेका तात्पर्य कि जिसके उरमें वाणी नाचे वही कवि है और जिसपर कृपा हो वही जन है। (ङ) वहाँ कठपुतलीका नाच देखकर लोग सुखी होते हैं, यहाँ श्रीरामजीके कृपापात्र-कविकी वाणीका विलास देखकर बड़े-बड़े विद्वान् प्रसन्न होते हैं। श्रीरामजी ऐसे निपुण नचानेवाले हैं तब वाणीकी शोभा क्योंकर न हो? (च) कविके उरको ***'अजिर'*** कहा, क्योंकि पुतली नचानेवाला प्रायः मैदानमें नचाता है। इस प्रकार यहाँ ***'सारद दारु नारि''''''बानी'*** में साङ्गरूपक है।

श्रीलमगोड़ाजी—***'सारद दारु नारि''''''। राम सूत्रधर''''''।''''''कबि उर''''''*** इति। कविवर टैगोरका भी यही मत है कि वस्तुतः कवि केवल एक बाँसुरी है, आवाज जो उसमेंसे निकलती हैं किसी औरहीकी। पूज्य आचार्य श्रीमहावीरप्रसाद द्विवेदीने मुझसे एक बार पूछा था कि क्या तुलसीदासजीने यह सब सोचकर लिखा था जो तुम लोग खोज-खोजकर उनके शब्दोंसे निकालते हो? मैंने कविवर टैगोरके मतके आधारपर उत्तर दिया कि—वास्तविक कविके वाक्य स्वयं सरस्वतीके वाक्य होते हैं, जिनमें सदा नवीनता रहती है—जिस तरह सूर्य एक प्रकृतिका चमत्कार है, वह नहीं सोचता कि कोई उसकी किरणोंसे रंगोंका विज्ञानं निकाल रहा होगा; कोई चिकित्सक सूर्यस्नानकी विधि बताता होगा, इत्यादि-इत्यादि। इसी तरह कवि सोचकर नहीं लिखता। उसका शब्दप्रवाह सुरसरिधारकी तरह स्वाभाविक होता है। भाष्यकार, टीका लिखनेवाले और समालोचक अनेक-अनेक गुण ढूँढ़ निकालते हैं। इसीलिये मिल्टनने भी कहा है कि काव्य लिखनेसे पहले कविको अपना जीवन ही काव्य बनाना चाहिये; तब तो सरस्वतीका प्रवाह उसके शब्दोंद्वारा निकलेगा परन्तु सौभाग्य यह है कि तुलसीदासजी बहुत अधिक मात्रामें जान-बूझकर लिखनेवाले कवि (Conscious poet) थे; यह बात स्पष्ट हो जायगी यदि आप इस बातपर विचार करें कि हर विचारणीय घटना या वक्तृताके पहले या पीछे वे स्वयं जो आलोचना करते हैं उससे अच्छी आलोचना करना कठिन है।

प्रश्न—***'सुमिरत सारद आवत धाई।'*** (१। ११। ४) ***'सारद बोलि बिनय सुर करहीं।'*** (२। ११। ८) ***'अस कहि सारद गइ बिधि लोका।'*** (२। २९५) ***'देखि मनोहर चारिउ जोरी। सारद उपमा सकल ढँढोरी॥'*** आदि स्थलोंपर शारदाको चैतन्य कहा गया है, तब यहाँ जड़ कठपुतलीकी उपमा क्यों दी गयी? (वे० भू०)

उत्तर—ईश्वरका ज्ञान सदा एकरस रहता है, कभी संकुचित नहीं होता और एकपादविभूत्यन्तर्गत

जीव भगवान्‌की मायाके अधीन हैं। अतः जीवका ज्ञान एकरस नहीं रहता, संकुचित-विकसित होता रहता है; यथा—*'ज्ञान अखण्ड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर॥'*, *'माया बस्य जीव अभिमानी'*, *'उपजइ बिनसइ ज्ञान जिमि पाइ सुसंग कुसंग'* इत्यादि। सब जीवोंके समान शारदा भी एक जीव विशेष ही है। जड़ चैतन्य सभी ईश्वराधीन हैं। सबका व्यापार भगवत्प्रेरणासे ही चलता है, स्वतन्त्र नहीं। इसीसे अर्थात् केवल भगवत्पारतन्त्र्यत्वके ही लक्ष्यसे शारदा एवं सबको कठपुतलीसे उपमा दी गयी है, कुछ जडत्वभावसे नहीं; क्योंकि यदि जडत्वभावसे कठपुतलीकी उपमा शारदाकी दी जाती तो यह कठपुतलीकी उपमा शिवजी सम्पूर्ण चराचरमात्रके लिये न दे डालते। यथा—*'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं॥'* श्रीमद्भागवतमें भी चराचरमात्रके लिये भगवत्पारतन्त्र्यत्वके ही कारण 'योषा दारुमयी यथा' कहा गया है। (वे० भू०)

नोट—३ विनायकी टीकाकारने *'सारद दारु नारि'* की व्याख्यामें एक भजन उद्धृत किया है—***'धनि कारीगर करतारको पुतलीका खेल बनाया। बिना हुक्म नहि हाथ उठावे बैठी रहे नहिं पार बसावे॥ हुक्म होइ तो नाच नचावै जब आप हिलावे तार को। जिसने यह जगत रचाया॥ १॥ जगदीश्वर तो कारीगर है पाँचों तत्त्वकी पुतली नर है। नाचे कूदे नहि वजर है पुतलीघर संसारको। बिन ज्ञान नजर नहि आया॥ २॥ उसके हाथमें सबकी डोरी कभी नचावे काली गोरी। किसीकी नहि चलती बरजोरी तज दे झूठ बिचारको। नहिं पार किसीने पाया॥ ३॥ परलयमें हो बंद तमासा फेर दुबारा रच दे खासा। 'छज्जूराम' को हरिकी आसा है धन्यवाद हुशियारको। आपेमें आप समाया॥' ४॥***

प्रनवौं सोइ कृपाल रघुनाथा। बरनौं बिसद तासु गुन गाथा॥७॥

अर्थ—उन्हीं कृपाल रघुनाथजीको मैं प्रणाम करता हूँ और उन्हीं (कृपालु) के निर्मल गुणोंकी कथाका वर्णन करता हूँ॥७॥

टिप्पणी—१ (क) *'सोइ कृपाल'* अर्थात् वाणीके प्रेरक जो कृपा करके *'कबि उर अजिर नचावहिं बानी'* उनको। कृपाल अर्थात् कृपा करनेवाले कहा क्योंकि ऊपर कह आये हैं कि *'जेहि पर कृपा करहिं'*....।' (ख) *'कृपाल रघुनाथा'* इति। पूर्व *'राम अंतरजामी'* कहा था और यहाँ *'कृपाल रघुनाथा'* कहा, इसमें भाव यह है कि वह जनपर कृपा करनेवाले अन्तर्यामी कृपा करके रघुनाथ हुए हैं, अर्थात् निर्गुण (अव्यक्त) से सगुण हुए हैं। सगुण होनेमें कृपा मुख्य है—**'मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्'**; इसीसे *'कृपाल'* विशेषण दिया। पुनः *'कृपाल'* का भाव कि मैं रघुनाथजीको प्रणाम करता हूँ, वे मुझे अपना जन जानकर मेरे हृदयमें वाणीको नचावें जिससे मैं उनके गुण वर्णन करूँ। (ग) *'बिसद तासु गुन गाथा'* इति। विशद कहनेका भाव कि जैसे भगवान्‌के गुण विशद हैं, वैसे ही मेरी वाणी विशद हो जाय। यथा—*'करहु अनुग्रह अस जिय जानी। बिमल जसहिं अनुहरइ सुबानी॥'* (१। १४। १३) (घ) ☞ स्मरण रहे कि अन्य सब वक्ताओंने भी श्रीरामजीको प्रणाम करके ही कथा प्रारम्भ की है—

तुलसीदासजी—*'अब रघुपति पद पंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद। कहउँ जुगल मुनिवर्य*.....*॥'* (१। ४३)
'सुमिरि सो नाम राम गुनगाथा। करौं नाइ रघुनाथहि माथा॥' (१। २८। २)

शिवजी—*'करि प्रनाम रामहिं त्रिपुरारी। हरषि सुधासम गिरा उचारी॥'* (१। ११२। ५)

भुशुण्डिजी—*'तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी॥'* (७। १२४। ७) यह अन्तका मङ्गलाचरण है। इसीसे सूचित हुआ कि आदिमें श्रीरामजीको प्रणाम करके भुशुण्डिजीने कथा आरम्भ की है।

टिप्पणी—२ ☞ इस प्रसङ्गमें यहाँ निर्गुण और सगुण दोनों रूप कहे हैं, इसीसे स्मरण और प्रणाम दो बातें पृथक्-पृथक् लिखीं। निर्गुणके लिये *'सुमिरि'* क्रिया और सगुणके लिये *'प्रनवौं'* कहा है—*'सुमिरि गिरापति*.....*। राम सूत्रधर अंतरजामी'*, *'प्रनवौं सोइ कृपाल रघुनाथा'*।

☞ यहाँतक उमा-शम्भु-संवादका हेतु कहा। आगे उमा-शम्भु-संवाद कहते हैं।

कैलास-प्रकरण (तदन्तर्गत)

उमा-शम्भु-संवाद एवं शिव-गीता

परम रम्य गिरिबर कैलासू। सदा जहाँ शिव उमा निवासू॥ ८॥

दो०—सिद्ध तपोधन जोगिजन सुर किन्नर मुनिबृंद।
बसहिं तहाँ सुकृती सकल सेवहिं शिव सुखकंद॥ १०५॥

शब्दार्थ—**रम्य**=सुन्दर; जो देखी हुई होनेपर भी अनदेखी-सी जान पड़े; रमणीया। **तपोधन**=तपस्वी; तप ही जिसका धन है; जो तपके सिवा और कुछ नहीं करता। =तपस्यापूर्ण—(वै०) **सुखकंद**=आनन्दकन्द, आनन्दघन। **कन्द**=मूल।=मेघ, घन, बादल; यथा—*'यज्ञोपवीत बिचित्र हेममय मुक्तामाल उरसि मोहि भाई। कंद तड़ित बिच ज्यों सुरपति धनु निकट बलाक पाँति चलि आई॥'* (गीतावली)

अर्थ—कैलास पर्वतोंमें श्रेष्ठ और अत्यन्त रमणीय है, जहाँ श्रीशिव-पार्वतीजीका निवास रहता है॥ ८॥ सिद्ध, तपस्वी, योगीलोग, देवता, किन्नर और मुनियोंके समूह वहाँ बसते हैं और ये सब पुण्यात्मा आनन्दकन्द शिवजीकी सेवा करते हैं॥ १०५॥

टिप्पणी—१ (क) *'परम रम्य'* का भाव कि इसकी रमणीयता देखकर ही श्रीशिवजी सदा कैलासपर ही उमासहित रहते हैं, तथा इसमें सदा सुख पाते हैं। [मिलान कीजिये—*'परम रम्य आरामु येह जो रामहि सुख* देत॥' (१। २२७) से। (जैसे पुष्पवाटिकामें) श्रीरामजीको सुख देनेसे श्रीजनकमहाराजके बागको *'परम रम्य'* कहा है। भाव कि श्रीरामजी स्वयं सुखस्वरूप आनन्दघन हैं, उनको भी इसने आनन्द दिया, इसलिये बागको *'परम रम्य'* कहा; वैसे ही यहाँ 'सुखकन्द शिवजी' को कैलाससे सुख होता है इससे कैलासको *'परम रम्य'* कहा गया।] पुन: *'परम'* का भाव कि अन्य सब स्थानोंसे कैलासकी शोभा अधिक है। (*'परम'* अतिशयका बोधक है। यह शब्द और भी स्थानोंके साथ आया है—*'परम रम्य मुनिबर मन भावन।'* (१। ४४। ६), *'परम रम्य आरामु येह……'*, इत्यादि।) (ख) *'गिरिबर'* से जनाया कि सब पर्वतोंसे यह अधिक श्रेष्ठ है। (ग) *'सदा जहाँ शिव उमा निवासू'* से सूचित किया कि शिव-उमाके निवाससे पर्वतकी बड़ाई हुई है, जैसे श्रीसीतारामजीके चित्रकूट-निवाससे विन्ध्याचलने बड़ाई पायी। यथा—*'बिंधि मुदित मन सुखु न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई॥'* (२। १३८। ८) उमासहित यहाँ निवास कहनेका भाव कि यह श्रीशिवजीका विहारस्थल है। एक रूपसे श्रीउमामहेश्वरजी यहाँ सदा विहार करते हैं। [पुन: भाव कि हिमालयपर और भी पर्वतशिखर हैं जो रमणीय हैं, परन्तु यह अत्यन्त रमणीय है; इसीसे उमासहित शिवजी यहाँ सदा रहते हैं। इस प्रकार यहाँ स्थानी और स्थान दोनोंकी श्रेष्ठता दिखायी। (पुन: *'सदा'* का भाव कि काशीमें भी वे रहते हैं, यथा—*'जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न।'* परन्तु राजा दिवोदासके समयमें शिवजीके काशी छोड़नेकी कथा सुनी जाती है। कैलासमें सदा निवास रहता है। वि० त्रि०) (घ) यहाँ उमा-शम्भु-संवादका स्थान दिखाया। ☞ इसी तरह अन्य तीनों वक्ताओंकी कथा अथवा संवादोंके स्थान ग्रन्थकारने कहे हैं। यथा—

(१) *'नौमी भौमवार मधु मासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥'* (१। ३४। ५) (तुलसीदासजी)

(२) *'भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा।'* (१। ४४)*'……जागबलिक मुनि परम बिबेकी।……'* (याज्ञवल्क्यजी)

(३) *'उत्तरदिसि सुंदर गिरि नीला। तहँ रह काकभुसुंडि सुसीला॥'* (७। ६२। २)*'……गएउ गरुड़……'* (भुशुण्डिजी)।

प० प० प्र०—१ चारों संवादोंके स्थानोंके वर्णनसे यह सूचित किया है कि परम रम्य, परम पावन, अति विचित्र और गूढ़ रघुपतिकथाके लिये स्थान भी परम रमणीय, परम पावन, सन्त-मुनि और सुकृती पुरुषोंका निवासवाला होना चाहिये। वहाँ शान्ति और एकान्त भी चाहिये।

२—*'जहाँ शिव उमा निवासू'* इति। विवाहके पूर्व शिव-उमा थे। विवाह करके कैलासपर पहुँचनेपर शम्भु-भवानी बने, यथा—*'जबहिं संभु कैलासहि आए।'''''जगत मातु पितु संभु भवानी।'* (१०३। ३-४) शृङ्गार विहार समय *'हर गिरिजा'* और गिरिजारमण बने, यथा—*'हरगिरिजा बिहार नित नयऊ', 'चरितसिंधु गिरिजारमन''''''।'* (१०३) पुत्रमुखदर्शनसे गृहस्थ कर्तव्यमुक्त होनेपर जब रामभक्तिपथका अवलम्बन किया तब फिर शिव-उमा हो गये। केवल भावार्थ भेदवाले शब्दोंके प्रयोगसे विशेष कुछ भी न कहकर गूढ़ भावना, परिस्थिति, कर्तव्यपालन इत्यादिका दिग्दर्शन सुचारुरूपसे करनेकी यह *'मानसकवि तुलसी'* की काव्यकला समग्र मानसमें अथ-से-इतितक भरी पड़ी है!

टिप्पणी—२ *'सिद्ध तपोधन''''''* इति। (क) *'बृंद'* शब्द सिद्ध आदिके अन्तमें देकर सबके साथ सूचित किया अर्थात् सिद्धोंके वृन्द, तपोधनवृन्द इत्यादि। (व्याकरणमें यह नियम है कि द्वन्द्वसमासके अन्तमें जो पद होता है वह उस समासके प्रत्येक शब्दके साथ भी लगता है। यथा—**'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमपि सम्बद्ध्यते।'**) सिद्ध भी देवताओंकी एक जाति है तथा जो योगद्वारा सिद्धियोंको प्राप्त हो चुके हैं, जिनका साधनकाल समाप्त हो गया और जो सिद्ध हो गये। योगी—१। २२। १; किन्नर—१। ६१। १ में देखिये। (ख) *'मुनि'* वे मुनिसमुदाय भी हैं जो स्वारोचिष मन्वन्तरमें कश्यपजीके स्त्री मुनिसे उत्पन्न हुए। अरिष्टासे जो उत्पन्न हुए वे किन्नर और गन्धर्व कहलाये। (प० पु० सृष्टिखण्ड) *'बसहिं तहाँ सुकृती'* का भाव कि सुकृतोंसे कैलासमें वास होता है। तहाँ अर्थात् जहाँ *'सदा शिव उमा निवासू'* है। *'बसहिं तहाँ'* कहनेका भाव कि उमा-शिव-निवास वहाँ सदा रहता है, इसीसे सुकृती वहाँ बसते हैं। यदि वहाँ शिव-उमा-निवास सदा नहीं होता तो न बसते। *'सुकृती'* का भाव कि उन्हें कैलास सुकृतसे मिला है, इसीसे वहाँ बसते हैं, कहीं अन्यत्रसे आकर शिव-सेवा नहीं करते। सुकृतसे कैलास मिला और सुकृतसे ही शिव-सेवा मिली। *'बृंद'* शब्द सकलका सम्बन्धी है। (ग) *'बसहिं'* और *'सेवहिं सुखकंद'* कहनेका तात्पर्य है कि सुकृतका फल सुख है, यथा—*'सब दुख बरजित प्रजा सुखारी। धरमशील सुंदर नर नारी॥'* (१। १५५। २), *'भुवन चारिदस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी॥'* (२। १। २), *'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग॥'* (७। २०)—ये कैलासके वाससे सुख नहीं मानते। शिवजी सुखके कन्द हैं, उनकी सेवा करते हैं। अर्थात् शिवसेवासे ही सुख मानते हैं। (घ) *'सेवहिं'* का भाव कि सेवाके लिये ही बसते हैं और शिवजी सेवक-सुकृतियोंका पालन करते हैं। सेवक शालि हैं, यथा—*'सेवक सालि पाल जलधर से', 'बरषारितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।'* (ङ) *'सुखकंद'* अर्थात् सुखरूपी जलकी वर्षा करनेवाले मेघ हैं। 'कं' (जलं) ददातीति कंदः।—*'सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी।'* (२।१।२) [कन्दका अर्थ मूल भी है। 'मूल' अर्थमें भाव यह होगा कि शिवजी सुखरूपी वृक्षकी जड़ हैं। जैसे मूलकी रक्षाके बिना वृक्ष नहीं रह सकता, वैसे ही शिव-सेवा बिना सुख रह नहीं सकता; यथा—*'जिमि सुख लहइ न संकर* द्रोही।' (४। १७। ५) *'कंद'* का अर्थ मेघ करते हुए पाण्डेजी कहते हैं कि *'सेवहिं सुखकंद'* का भाव यह है कि हमपर भी कभी श्रीराम यशजलकी वर्षा कर देंगे,—*'बरषहिं राम सुजस बर बारी'*]।

नोट—मिलान कीजिये भा० ४। ६। ९ **'जन्मौषधितपोमन्त्रयोगसिद्धैर्नरेतरैः। जुष्टं किन्नरगन्धर्वैरप्सरोभिर्वृतं सदा॥'** यहाँसे लेकर श्लोक २२ तक कैलासका बहुत सुन्दर वर्णन है। वह सब भाव गोस्वामीजीने *'परम रम्य'* विशेषणसे जना दिये हैं। *'सिद्ध तपोधन'* आदिसे कैलासकी पवित्रता दिखायी। वाल्मीकीयमें भी सिद्ध तपोधन मुनियोंके निवासका प्रमाण मिलता है। अहल्याको शाप देनेके पश्चात् परम तपस्वी गौतमजी हिमालयके उस शिखरपर तपस्या करने लगे जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं। यथा—**'इममाश्रममुत्सृज्य सिद्धचारणसेविते। हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे महातपाः॥'** (वाल्मी० १। ४८। ३३)

हरि हर बिमुख धर्म रति नाहीं। ते नर तहँ सपनेहुँ नहिं जाहीं॥ १॥
तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला। नित नूतन सुंदर सब काला॥ २॥

शब्दार्थ—**बिमुख**=उदासीन, विरुद्ध, प्रतिकूल, जिसकी प्रीति नहीं है। **बिटप**=वृक्ष, पेड़। **नित नूतन**=नित्य नया, सदा हराभरा। **बिसाला** (विशाल)=बड़ा भारी।

अर्थ—जो हरि-हर-विमुख हैं, जिनकी धर्ममें प्रीति नहीं है, वे मनुष्य वहाँ स्वप्नमें भी नहीं जाते॥ १॥ उस पर्वतपर एक विशाल बरगदका वृक्ष है जो सब कालोंमें सदा हराभरा नित्य नया और सुन्दर बना रहता है॥ २॥

टिप्पणी—१ *'हरि हर बिमुख……'* इति। (क) दोहेमें कैलासके अधिकारी कहे—*'सिद्ध तपोधन जोगिजन…'* इत्यादि। अब अनधिकारी कहते हैं।—*'हरि हर बिमुख'।* इस तरह यहाँतक तीन कोटि (तरह) के लोग गिनाये। एक तो वे जो 'सदा' निवास करते हैं—*'सदा जहाँ शिव उमा निवासू।'* दूसरे, सिद्ध, तपस्वी, योगी इत्यादि सुकृती लोगोंका निवास कहा; इनका वहाँ 'सदा' निवास नहीं है, क्योंकि इनको सुकृतसे कैलासवास प्राप्त हुआ है; जितना सुकृत है उतने ही दिनका वास है, **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'** (गीता ९। २१) इसीसे सुकृती लोगोंके निवासमें 'सदा' पद नहीं दिया गया। तीसरी कोटिमें वे लोग गिनाये जिनका वहाँ जाना ही नहीं होता। वे हैं *'हरि हर बिमुख…'।* (ख) यहाँ प्रथम 'हरि' को कहनेका भाव यह है कि जैसे शिवविमुख श्रीरामजीको नहीं भाते; यथा—*'शिव पद कमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहि ते सपनेहुँ न सोहाहीं॥'* (१। १०४) वैसे ही *'हरि बिमुख'* शिवजीको नहीं सुहाते, शिवजी उन्हें अपने कैलासमें निवास नहीं देते। ☞इसी वचनके अनुकूल कैलासवासियोंका भी उल्लेख किया गया है।—*'सेवहिं शिव सुखकंद'* कहकर जनाया कि ये लोग हरि-हर-विमुख नहीं हैं; *'बसहिं तहाँ सुकृती सकल'* से सूचित किया कि ये सब धर्मरत हैं। पुनः, (ग) दोहेमें जाग्रत्-अवस्थाके निवासी कहे गये और अब स्वप्नावस्थाका हाल कहते हैं कि जो हरि-हर-विमुख हैं वे वहाँ स्वप्नमें भी नहीं जाते तब वहाँ 'वास' की कौन कहे। जाग्रदवस्थामें जो व्यवहार होता है, वही स्वप्नावस्थामें होता है, सुषुप्तिमें कुछ नहीं होता और पुण्यपापके फलका भोग भी जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें ही होता है। इसीसे जाग्रत् और स्वप्न दो ही अवस्थाएँ लिखीं। पुनः, (घ) *'हरि हर बिमुख'* से उपासनाहीन, *'धर्म रति नाहीं'* से कर्महीन, इस तरह दो कोटिके लोग गिनाये। इससे जनाया कि उपासक और धर्मात्मा वहाँ बसते हैं। ज्ञानीका नाम यहाँ नहीं दिया गया क्योंकि ज्ञानियोंको कैवल्य मोक्ष प्राप्त होता है अथवा ज्ञानाभिमानके कारण वे वहाँसे च्युत हुए हैं। यथा—*'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥'* (७। १३) [पुनः *'धर्म रति नाहीं'* का भाव कि धर्मपर चलनेवालोंको दुःख नहीं होता किन्तु सुखकी प्राप्ति होती है, यथा—*'सब दुख बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नर नारी॥'* (१। ११५) *'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहि……॥'* (७। २०) धर्ममें प्रीति न होनेसे सुखभोगसे वञ्चित रहकर दुःख भोगते हैं। *'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।'* (७। १०२) सुखका साधन धर्म है, अतः धर्मसे विमुख रहनेसे सुख कब हो सकता है? शंकरजी धर्मके मूल हैं, यथा—**'मूलं धर्मतरोः'** (अ० मं०) (प्र० सं०)]

वि० त्रि०—*'ते नर तहँ सपनेहुँ नहिं जाहीं'* इति। भाव कि ऐसोंमेंसे कोई कैलास जानेका स्वप्न भी नहीं देखता। यह बात स्पष्ट ही है। आसुरी प्रवृत्तिके लोगोंको वहाँ जानेमें अधिक सुविधा है, क्योंकि वे मद्यमांसादिके प्रयोगसे उस भयानक शीतका सामना कर सकते हैं। पर उनका जाना न जानेके बराबर है। यही ठीक है कि वे नहीं जाते, क्योंकि उन्हें वहाँ सिवा हिम और पाषाणके कुछ दिखायी ही नहीं पड़ता। दिव्य प्रदेशके दर्शनके लिये दिव्य दृष्टिकी आवश्यकता होती है। बिना सूर्यमें संयमद्वारा दृष्टि प्राप्त किये कैलासके दिव्यांशका, जिसका यहाँ वर्णन है, दर्शन नहीं प्राप्त हो सकता।

टिप्पणी—२ *'तेहि गिरि पर बट…'* इति। (क) ☞*'परम रम्य गिरिबर कैलासू'* से *'तेहि गिरि पर…'* तक गिरिका वर्णन किया। (ख) *'बट बिटप बिसाला'* इति। *'बिसाला'* अर्थात् हजार योजन लम्बा-चौड़ा है। [वटवृक्ष बहुत बड़े-बड़े आज दिन भी भरतवर्षमें पाये जाते हैं। नर्मदातटपर एक वटवृक्ष इतना

विशाल है कि उसके नीचे महाराजा अपनी छः-छः, सात-सात हजार मनुष्योंकी सेना साथ लिये महीनों विहार किया करते थे। इसके पत्ते इतने सघन हैं कि वे ही शामियानेका काम देते हैं, वर्षाकी बूँदों और सूर्यकी किरणोंका वहाँ गम-गुजर नहीं। इसकी छाया गर्मीमें सुन्दर शीतल और जाड़ेमें गर्म रहती हैं।—तब फिर कैलासस्थ वटकी विशालताका कहना ही क्या? वह तो अनादिकालीन है। इसी प्रकारका भगवान् विष्णुका अक्षयवट है जो प्रलयमें भी बना रहता है। (भा० ४।६।३२) में भगवान् शङ्करके वटवृक्षका वर्णन इस प्रकार है—'**स योजनशतोत्सेधः पादोनविटपायतः। पर्यक्कृताचलच्छायो निर्नीडस्तापवर्जितः॥**' अर्थात् वह वृक्ष सौ योजन ऊँचा और पचहत्तर-पचहत्तर योजन लम्बी शाखाओंसे फैला हुआ था। उसके चारों ओर निश्चल छाया थी। उसमें कोई घोसला भी नहीं था और उसके नीचे रहनेवालोंको धूपका कष्ट नहीं होता था।] गिरिकी शोभा कहकर अब गिरिके ऊपर स्थित वटकी शोभा कहते हैं। (ग) *'नित नूतन सुंदर सब काला'* इति। अर्थात् उसके पत्ते कभी नहीं झड़ते, सदा हरे-भरे कोमल बने रहते हैं। *'सब काला'* अर्थात् वर्षा, हिम, ग्रीष्म सभी ऋतुओंमें तथा भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंमें, दिन-रात-संध्या सभी समय सुन्दर रहता है; तात्पर्य कि उस वटवृक्षको कालके धर्म नहीं व्यापते। [साधारण वटके विषयमें किसी कविने कहा है-'**कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री चेष्टिकागृहम्। शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम्॥**' और यह तो शिवविश्रामविटप है तब यह सब ऋतुओंमें नित-नूतन सुन्दर हो तो आश्चर्य क्या? *'नित नूतन''''काला'* कहकर इसे माया—आवरण और प्राकृत विकारोंसे रहित तथा दिव्य जनाया।]

त्रिबिध समीर सुसीतलि छाया। शिव विश्राम बिटप श्रुति गाया॥ ३॥
एक बार तेहि तर प्रभु गएऊ। तरु बिलोकि उर अति सुखु भएऊ॥ ४॥

शब्दार्थ—**समीर**=पवन, वायु। **सुसीतलि** (सुशीतल)=अनुकूल ठंढी। **विश्राम बिटप**=वह वृक्ष जहाँ श्रमनिवृत्तिके लिये जाते हैं, श्रमनिवृत्तिका स्थान। शिवजीको विश्राम देनेवाला वृक्ष। **तर**=तले, नीचे। **तरु**=वृक्ष।

अर्थ—(शीतल, मन्द, सुगन्धित) तीनों प्रकारकी वायु और सुन्दर (अनुकूल) शीतल छाया वहाँ रहती है। वेदोंने उसे शिवजीके विश्राम करनेका वृक्ष कहा है॥ ३॥ एक बार प्रभु (श्रीशिवजी) उसके नीचे गये। वृक्षको देखकर उनके हृदयमें अत्यन्त सुख हुआ॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'त्रिबिध समीर'* इति। तीनों प्रकारके पवनका चलना कहते हैं, परंतु इसका कोई कारण नहीं कहते, इससे पाया जाता है कि वहाँ बिना कारण ही सदा स्वतः त्रिविध समीर चलता रहता है। (कारण भी स्पष्ट है। हिमालयपर होनेसे शीतल, विशाल वृक्ष उसपर होनेसे मन्द और कैलासपर शिवजीके मित्र कुबेरका चैत्ररथ वन होनेसे सुगन्धित है) (ख) *'सुसीतलि छाया'* इति। वटकी सुन्दर छाया विशेष सुखदायी है; इसीसे कविने बहुत जगह वटकी ही छायामें बैठना तथा कथाका होना लिखा है। यथा—*तब लगि बैठ अहौं बटछाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं॥'* (१। ५२। २) *'जानी श्रमित सीय मन माहीं। घरिक बिलंबु कीन्ह बट छाहीं॥'* (२। ११५। ३)*'तब रघुबीर श्रमित सिय जानी। देखि निकट बटु सीतल पानी॥ तहँ बसि''''* (२। १२४। ३-४) *'बटछाया बेदिका बनाई। सिय निज पानि सरोज सुहाई॥ जहाँ बैठि''''''* (२। २३७) *'करि तड़ाग मज्जन जल पाना। बट तर गयउ हृदय हरषाना॥'* (७। ६३। ३) *'मेरु सिखर बटछाया मुनि लोमस आसीन।'* (७। ११०) तथा यहाँ—*'तेहि गिरिपर बट बिटप बिसाला नित नूतन सुंदर सब काला।''''* (ग) *'सुसीतलि'* का भाव कि बहुत शीतलसे जाड़ा लग आता है, रोग उत्पन्न होता है, इसीसे सुशीतल कहकर जनाया कि यह दोषरहित है, सदा एकरस सुखदायक है। यथा—*'प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥'* (१। ३६। ६) तथा—*'भरत सुभाउ सुसीतलताई। सदा एक रस बरनि न जाई॥'* (१। ४२। ८) देखिये। पुनः, (घ) शीतल छाया कहकर जनाया कि उमा-शम्भु-संवाद ग्रीष्मऋतुमें हुआ, गर्मीके दिन थे और गर्मीमें वटछाया अच्छी लगती ही है। (ङ) *'शिव विश्राम बिटप'* कहकर वटको अमर बताया और *'श्रुति गाया'* से उसका अजर होना कहा। ऊपर *'सुंदर सब काला'* अर्थात् काल और प्राकृत विकाररहित कह ही आये हैं। इस तरह

इस वटको दिव्य जनाया। इसीसे इसका नाम 'अक्षयवट' है। *'श्रुति गाया'* से इसे अनादिकालीन जनाया क्योंकि वेद अनादि हैं।

नोट—१ कुछ महात्माओंका मत है कि कथावार्ता कहना-सुनना ही महात्माओंका विश्राम है; यथा—*'करि भोजन मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी॥'* (१। २३७। ५) *रिषय संग रघुवंशमनि करि भोजनु बिश्रामु। बैठे प्रभु भ्राता सहित दिवसु रहा भरि जामु॥'* (१। २१७)—(दोनों ठौर दोपहरका समय है। इसलिये विश्रामसे कथावार्ता ही सूचित होता है।) *'एहि बिधि कहत राम गुनग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा॥'* (५। ८। २) *'सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा।'* (१। ३५। ७) यह वट कथावार्ताका स्थान है। यहाँ आकर कथाका स्मरण होनेसे विश्राम और अतिसुख मिलता है। यथा—*'हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥ श्रीरघुनाथरूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥'* (१। १११। ७-८) भाव कि कथाकी स्मृतिसे परमानन्द होकर अमित सुख होता है। देखिये श्रीसनकादिजी ब्रह्मानन्द छोड़कर कथा सुनते हैं क्योंकि इसमें परमानन्द मिलता है। जिससे बढ़कर सुख नहीं।

गिरि और वटकी शोभाका मिलान

कैलास	वट
परम रम्य गिरिबर कैलासू	१ यह भी सब कालमें सुन्दर है—*'नित नूतन सुंदर⋯।'*
गिरि बर	२ वट विशाल
शिव—उमा—निवास	३ शिव—विश्राम विटप
अपनी रमणीयतासे सुखद है	४ वट *'बिलोकि उर अति सुख भयऊ।'*

टिप्पणी—२ *'एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ।⋯⋯'* इति। (क) *'एक बार'* का भाव कि यह शिवजीके विश्रामका वट है, वहाँ अनेक बार गये हैं, जाया करते ही हैं, उनमेंसे एक बारका हाल हम कहते हैं कि जब श्रीपार्वतीजीने श्रीरामचरितका प्रश्न किया था।—[*'एक बार'* एक दफा, एक समयकी बात है कि।] (ख) *'गएऊ'* से जनाया कि रहनेके स्थानसे वटवृक्ष अलग है, दूर है। उस वटतले विश्राम किया करते हैं। (ग) *'तरु बिलोकि⋯⋯'* अर्थात् वृक्षकी शोभा देखकर सुख हुआ। तरुकी शोभा पूर्व ही कह आये हैं—*'नित नूतन सुंदर⋯⋯'*। (घ) *'अति सुखु भएऊ'* कहकर जनाया कि वटकी अत्यन्त शोभा है, इसीसे अत्यन्त सुख हुआ। यथा—*'नील सघन पल्लव फल लाला। अबिरल छाँह सुखद सब काला॥ मानहु तिमिर अरुनमय रासी। बिरची बिधि सँकेलि सुषमा सी॥'* (२। २३७। ४-५)—[पुनः, *'अति सुखु'* होनेका कारण स्थान और विटप आदिकी परम रमणीयता है, यथा—*'परम रम्य आराम यह जो रामहि सुख देत।'* (१। २२७) और यह वट *'परम रम्य गिरिबर कैलास'* पर है ही। पुनः, वट सुखदायी होता ही है, यह बात ग्रन्थकारने ग्रन्थभरमें उसीको बारम्बार लिखकर जना दी है। यथा—*'नाथ देखिअहिं बिटप बिसाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला॥ तिन्ह तरुबरन्ह मध्य बटु सोहा। मंजु बिसाल देखि मन मोहा॥'* (२। २३७) इत्यादि। टि०१ (ख) देखिये। और शिवजीको तो वट इतना अधिक प्रिय है कि *'प्राकृतहू बट-बूट बसत पुरारि हैं।* (क० ७। १४०) (ङ) यहाँ लोग यह प्रश्न करने लगते हैं कि 'क्या और कभी ऐसा सुख न मिला था जो *'एक बार'* और *'अति सुख'* यहाँ लिखा? इसका उत्तर टि० २ (क) में आ जाता है। अर्थात् यह एक दफाकी बात है; ऐसे ही उनको सदा यही सुख होता है जब-जब वे यहाँ आते हैं।]

नोट—२ बैजनाथजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीने श्रीरामनवमीको श्रीअयोध्याजीमें कथा प्रारम्भ की, श्रीयाज्ञवल्क्यजीने फाल्गुन द्वितीयाको प्रयागमें और शिवजीने 'एक बार' जेष्ठग्रीष्ममें कैलासपर इस विशाल वटके नीचे कथा कही।

निज कर डासि नागरिपु छाला। बैठे सहजहिं संभु कृपाला॥ ५॥
कुंद इंदु दर गौर सरीरा। भुज प्रलंब परिधन मुनिचीरा॥ ६॥

शब्दार्थ—**डासना**—बिछाना। **नाग**=हाथी। **नागरिपु**=सिंह। **छाल**=खाल, चर्म। **नागरिपु छाला**=बाघाम्बर। **सहजहिं**=स्वाभाविक ही अर्थात् कथा या समाधिके विचारसे नहीं, साधारण ही। **कुंद**—यह पौधा जुहीका-सा होता है, कुआरसे फाल्गुन-चैततक फूलता रहता है। मं० सोरठा ४ देखिये। दर=शङ्ख। **प्रलंब**=बहुत लम्बी अर्थात् घुटनेतक लम्बी, आजानु। **परिधन** (सं० परिधान)=कमरके नीचे पहिननेका वस्त्र। अमरकोशमें इसके चार नाम दिये हैं, यथा-'**अन्तरीयोपसंख्यानपरिधानान्यधोंऽशुके।**' (अमर २। ६। ११७) **मुनिचीरा** (चीर=वस्त्र)=वल्कल वस्त्र।

अर्थ—अपने हाथोंसे बाघाम्बर बिछाकर कृपालु शिवजी स्वाभाविक ही वहाँ बैठ गये॥ ५॥ कुन्द-पुष्प, चन्द्रमा और शङ्खके समान गौर(गोरा, उज्ज्वल) शरीर है। भुजाएँ बहुत लम्बी हैं। मुनियोंके-से वल्कल वस्त्र (पहने हुए) हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'निज कर डासि'* इति। इससे सूचित हुआ कि वहाँ कोई नहीं था। [इससे निरभिमानता भी सूचित होती है। ☞ उपदेश—'गोस्वामीजी सब आचार्यवक्तृत्वधर्म श्रीमहादेवजीद्वारा लक्षित कराते हैं। जब ऐसा हो तब भगवत्तत्त्व उपदेश (करने)का अधिकारी है और तभी जिज्ञासुको यथार्थ तत्त्व प्राप्त होता है। वक्ताको चाहिये कि मन-कर्म-वचनसे निरभिमानी हो, अपने शरीरकी सेवा करानेकी अपेक्षा न करे, अपने हाथों सब कर्म और शरीरकी परिचर्या कर ले।'(करु०) (ख)बैजनाथजीका मत है कि 'एकाग्रताहेतु अपने हाथसे बिछाया जिसमें कोई दूसरा न आवे। इससे जनाया कि वे अकाम हैं। सिंहचर्म ज्ञान-सिद्धिदायक है।' रा० प्र० कार कहते हैं कि 'अति संकोची हैं, संकोचके मारे किसीसे बिछानेको न कहा; अथवा जीवोंके उपदेशहेतु कि सबसे लघु बना रहना चाहिये, वा इससे निर्दम्भ जनाया। दूसरोंसे काम कराना आप सिद्ध बनकर बैठना यह भी दम्भका स्वरूप है। अथवा, एकान्तमें पार्वतीजीको उपदेश करना है, यहाँ कोई गण नहीं है'। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'अपने हाथसे आसन बिछानेमें अनेक हेतु हो सकते हैं पर '**स्वयं दासास्तपस्विनः**' तपस्वीको अपनी सेवा स्वयं करनी चाहिये। दूसरा कारण विशेष महत्त्वका यह है कि जिस व्याघ्र-चर्म, कुश, कम्बल, कृष्णाजिन इत्यादि आसनपर बैठकर ध्यान वा जपादि पारमार्थिक साधन किया जाता है उसको दूसरेके स्पर्शसे बचाना चाहिये, क्योंकि स्पर्श करनेवालेके संस्कार स्पर्शसे संक्रमित होते हैं। इसीसे कितने तपस्वीलोग अपना आसन अपने कन्धेपर रखे हुए ही कहीं जाते हैं, जानेपर अपने हाथसे उसे बिछाते और उसपर बैठते हैं। न्यूनाधिकारी साधकके आसनपर बैठना भी उचित नहीं। संस्कारोंका संक्रमण अन्नमें जैसा अति सूक्ष्म रीतिसे होता है, वैसा आसन, जल, स्थान इत्यादिमें भी होता है। अतः शिवजी '**धर्ममार्गं चरित्रेण**' बताते हैं।'] (ग) *'नागरिपु छाला'* इति। 'शिवजीके बाघाम्बर है' (उनको बाघाम्बर प्रिय है, बाघाम्बर आपका वस्त्र है, बाघाम्बर आपका आसन है, यह सदा आपके पास रहता है) इसीसे सर्वत्र इसीका उल्लेख है। यथा—*'कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तन बिभूति कटि केहरिछाला॥'* (१। ९२। २) '**शङ्खेन्द्वाभमतीवसुन्दरतनुं शार्दूलचर्माम्बरं।**' (६। मं० २) '**मृगाधीशचर्माम्बरं मुंडमालं**'। (७। १०८) तथा यहाँ *'निज कर डासि नागरिपु छाला'।* इसीसे इसीको बिछाया। [पार्वतीजीके संशयरूपी नागको नष्ट करना है, अतः सिंहचर्म बिछाया। अथवा, संशयरूपी सिंह रामभक्तिरूपी गऊसे विरोध करता था, अतः उसकी खाल निकालकर उसको दबाकर बैठे। (रा० प्र०)]

नोट—१ आसन अनेक प्रकारके कहे गये हैं। सबोंके धर्म पृथक्-पृथक् हैं यथा—''**कुशासने भवेदायुः मोक्षः स्याद्व्याघ्रचर्मणि। अजिने सर्वसिद्धिः स्यात्कम्बले सिद्धिरुत्तमा॥ वस्त्रासनेषु दारिद्र्यं धरण्यां शोकसम्भवः। शिलायां च भवेद्व्याधिः काष्ठे व्यर्थपरिश्रमः॥**'' (अगस्त्य सं० ३२।१२-१३) अर्थात् कुशासनसे आयुकी वृद्धि, बाघाम्बरसे मोक्ष, कृष्णमृगचर्मसे सर्वसिद्धि और (ऊनी) कम्बलासनसे उत्तमा सिद्धि, अर्थात् सद्गतिकी प्राप्ति होती है। इसी तरह सूतीवस्त्रासनसे दारिद्र्य, बिना आसनके खाली भूमिसे शोकोत्पत्ति, पत्थरसे रोग और काष्ठासनसे पूजनादि व्यर्थ हो जाते हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'बैठे सहजहिं'* साधारण ही बैठ गये, अर्थात् सुखासनसे बैठ गये। ध्यानके लिये

वटतले नहीं बैठे जैसे सतीमोह होनेपर बैठे थे; यथा—*'तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन। बैठे बटतर करि कमलासन॥ संकर सहज सरूप सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥'* (१। ५८। ७-८) पुनः भाव कि सब कृत्यसे सावकाश होकर बैठे। कालक्षेप करनेको बैठे। *'कृपाला'* का भाव कि शिवजी त्रिकालज्ञ हैं, जानते हैं कि एकान्त पाकर पार्वतीजी अपना संदेह प्रकट कर प्रश्न करेंगी, उनके संशयकी निवृत्तिके लिये कृपा करके एकान्तमें आकर बैठे। पुनः, भाव कि इससे वक्ताका लक्षण बताया कि उसे ऐसा कृपाल होना चाहिये।

टिप्पणी—३ ***कुंद इंदु दर गौर सरीरा।'''''*** *'* इति। (क) कुन्दसमान कोमल और सुगन्धयुक्त, इन्दुसमान प्रकाश और आह्लादयुक्त तथा शङ्खसमान सुचिक्कन और दृढ़। यहाँ वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है। शरीर उपमेय है, कुन्द, इन्दु, दर उपमान हैं, गौर धर्म है; 'सम' वाचक यहाँ नहीं है। [(ख) कीनायोगीजी कहते हैं कि 'कुन्द इन्दु दर' भगवान् शङ्करके तीनों स्वरूपोंके प्रतिपादक हैं। कुन्द ईश्वरस्वरूपकी उपमा है, क्योंकि इससे सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारसे विशेष सम्बन्ध है। इन्दु सदाशिवतत्त्वका बोधक है जो शान्तिका अधिष्ठाता है। इसी तरह दर विशुद्ध विज्ञानात्मक महाशिवस्वरूपका परिचायक है। (ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि इन तीन उपमाओंसे सर्वांगकी शोभा दिखाते हैं। 'कुन्द' से शोभाके तीन अङ्ग रमणीकता, मृदुता और सुकुमारता लिये, देखे हुए होनेपर भी अनदेखा-सा जानना यह गुण इनमें है। 'इन्दु' से माधुरी (जिसे देखनेपर तृप्ति न हो), सुन्दरता (सर्वांग सुठौर होना) और द्युति अङ्ग लिये। और, 'दर' से कान्ति (सुवर्णकी-सी ज्योति), लावण्य (जैसे मोतीका-सा पानी) और रूप (जो बिना भूषण ही भूषित लगे) ये तीन अङ्ग कहे।] (घ)— ☞'कृपाल कहकर भीतर-(अन्तःकरण-) की शोभा कही थी, अब बाहर तनकी शोभा कुन्दादिसे कहते हैं। गौरता वा गोरेपनमें एक-एक स्थलके एक-एक उपमान कहे गये हैं। पृथ्वीका कुन्द, स्वर्गका इन्दु और जलका शङ्ख। जल, थल और नभ ये तीन ही स्थान होते हैं। [इन तीन उपमाओंको देकर तीनों लोकोंमें सुन्दरताकी सीमा होना सूचित किया। कुन्दसे भूलोक, इन्दुसे स्वर्ग और दरसे पाताललोक सूचित किया; शङ्ख समुद्रमें होता है। (ङ) तीनों उपमाओंके गुण पृथक्-पृथक् हैं परंतु शिवजीमें तीनोंके गुण एक ही ठौर मिलते हैं। कुन्दसमान उज्ज्वल, कोमल, सुगन्धित; इन्दुसम शीतल प्रकाशयुक्त और अमृतमय; तथा दरके समान पुष्ट, सुडौल, सुचिक्कन। कण्ठ शङ्खसमान त्रिरेखायुक्त है।]

प० प० प्र०—जैसे यहाँ कुन्द, इन्दु, दर तीन उपमाएँ वक्तव्य गुणोंको दरसानेके लिये प्रयुक्त हुई हैं वैसे ही श्रीरामजीकी श्यामताके लिये नीलसरोरुह, नीलमणि, नीलनीरधर—ये तीन उपमाएँ दी गयी हैं। कुन्दमें प्रसन्नता, सुगन्ध, कोमलता, सरसता, माधुर्य, भृङ्गोंको आकर्षित करनेकी शक्ति आदि नौ गुण हैं, जैसे नील सरोरुहमें हैं। कुन्दमें तेजस्विता, शीतलता, ताप-दाह-निवारक शक्ति इत्यादि नहीं हैं, ये गुण इन्दुमें हैं, पर काठिन्य, गाम्भीर्य, शब्दमाधुरी, शब्दकी ध्वनिकी पवित्रता, माङ्गल्य, भयकारिता, भयहारिता इत्यादि शङ्खके गुण कुन्द और इन्दुमें नहीं हैं। कुन्दके गुण अल्पकाल टिकते हैं, पर दरके गुण दीर्घकालतक रहते हैं तथा नीलमणिकी कठिनता और शङ्खकी कठिनतामें बहुत अन्तर है। वैसा ही भेद नीलसरोरुह और कुन्दमें तथा नीलनीलधर और शङ्खमें है। इस प्रकार शिवजीसे रामजीकी किञ्चित् श्रेष्ठता भी सूचित की है। उपर्युक्त गुणोंके लिये आधार शिवरूपवर्णनमें मानसमें ही हैं। विस्तारभयसे यहाँ नहीं दिये जाते।

नोट—२ *'भुज प्रलंब'* अर्थात् आजानुबाहु हैं। *'परिधन मुनिचीरा'* अर्थात् उदासीन तपस्वी-वेष है। पुनः भाव कि 'आप ऐसे विरक्त हैं कि भोजपत्र आदि वल्कल वस्त्र ही पहनते हैं, पर हैं ***'प्रलंबभुज'*** अर्थात् दान देनेके लिये सदा हाथ बढ़ाये रखते हैं। (करु०)

तरुन अरुन अंबुज सम चरना। नख दुति भगत हृदय तम हरना॥ ७॥

भुजग भूति भूषन त्रिपुरारी। आननु सरद चंद छबिहारी॥ ८॥

शब्दार्थ—**अंबुज**=कमल। **दुति** (द्युति)=चमक, ज्योति। **भुजग**=सर्प। **आननु**= मुख।

अर्थ—नये पूरे खिले हुए लाल कमलके समान चरण हैं। नखोंकी ज्योति भक्तोंके हृदयके अन्धकारको

हरनेवाली है॥७॥ सर्प और (चिताकी) भस्म आपके शरीरके आभूषण हैं और आप त्रिपुरासुरके शत्रु हैं। मुख शरद्पूर्णिमाके चन्द्रमाकी छबिका हरनेवाला है॥८॥

टिप्पणी—१ *'तरुन अरुन अंबुज सम चरना।……'* इति। (क) यहाँ पूर्णोपमालंकार है। चरण उपमेय है, अम्बुज उपमान है, सम वाचक है और अरुन धर्म है। *'नख दुति भगत हृदय तम हरना'* यह चरणका विशेषण है। वे चरण कैसे हैं? अपने नखोंकी द्युतिद्वारा भक्त-हृदय-तमको हर लेते हैं। 'नखकी द्युति भक्तके हृदयतमको हरती है'—इस अर्थमें *'हृदय तम हरनी'* पाठ होना चाहिये, पर यहाँ *'हरनी'* पाठ नहीं है, *'हरना'* है। 'नखोंकी द्युति भक्तोंके हृदयतमको हरनेवाली है' ऐसा अर्थ करनेमें समर्थन इस प्रकार करना होगा कि भाषामें लिङ्गका नियम नहीं रहता। यथा—*'निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा॥'* (१। २०३। ८) *'मरम बचन जब सीता बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला॥'* (३। २८। ५)—इस ग्रन्थमें प्रायः कर्ताके साथ क्रियाका सम्बन्ध नहीं रहता, कर्मके साथ रहता है। यथा—*'जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं राम सीता मैं हारी॥'* (६। ३३। ९)—यहाँ अङ्गदके साथ क्रियाका सम्बन्ध नहीं है 'सीता' के साथ है, इसीसे *'हारी'* कहा। पुनः यथा—*'तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता। देखी चहउँ जानकी माता॥'* (५। ८। ४) तथा यहाँ *'हृदयतम'* के साथ *'हरन'* क्रियाका सम्बन्ध है। ऐसे ही आगे *'आननु सरद चंद छबिहारी'* में *'हारी'* छबिके साथ है। (अथवा, *'चरना'* के योगसे यहाँ *'हरना'* कहा। अथवा, 'नख अपनी द्युतिसे तम हरनेवाले हैं' ऐसा अर्थ कर लें। अर्थात् नखका उसे विशेषण मान लें।) (ख) *'नख दुति भगत……'* इति। *'हृदय तम हरना'* से सूचित किया कि चरण हृदयमें धारण करे तब हृदयका अन्धकार हरण होगा। *'भगत हृदय'* कहनेका भाव कि भक्तलोग ही चरणोंको हृदयमें धारण करते हैं, इसीसे उन्हींके हृदयका तम हरते हैं। वे चरणोंको हृदयमें रखते हैं इसीसे भक्त कहलाते हैं—पादसेवन चतुर्थ भक्ति है ही। नख-द्युति हृदयतमको हरती है, इस कथनसे जनाया कि शिवजी सबके गुरु हैं, जगद्गुरु हैं; यथा—*'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।'* (१। १११। ५) गुरुवन्दनामें लिखा है कि गुरुदेव अपने पदनख-ज्योतिद्वारा शिष्यके मोहान्धकारको नाश करते हैं। यथा—*'श्रीगुर-पद-नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥ दलन मोह तम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवहिं जासू॥'* (१। १। ५-६) यह लक्षण शिवजीमें दिखाकर उन्हें सबका गुरु जना दिया। पार्वतीजी उन्हें आगे *'त्रिभुवनगुरु'* कहेंगी ही, उसीको बीजरूपसे यहाँ कह दिया है। *'भगत हृदय तम हरना'* विशेषण यहाँ देकर सूचित करते हैं कि पार्वतीजीके मोह-भ्रम-संशयरूपी तमका विनाश करेंगे।

टिप्पणी—२ *'भुजग भूति भूषन त्रिपुरारी।……'* इति। (क) कथाके प्रारम्भमें मङ्गलरूपका वर्णन करते हैं, इसीसे यहाँ अमङ्गल साज नहीं कहा। मुनि चीर पहने हैं! नरसिरमाल अमङ्गल है, अतः उसे यहाँ नहीं कहते। (ख) *'भुजग'* से सर्पराज शेष-(वा वासुकि-) को सूचित किया। शेषजी भूषण हैं, यह आगेके *'भुजगराज भूषन सिरनाथा।'* (१०९। ८) से स्पष्ट है। शेष भगवान्‌के भक्त हैं, अनन्त नाम लेते हैं, अपने ऊपर भगवान्‌को शयन कराते हैं। इसीसे इनका संग यहाँ वर्णन किया है। रामभक्त होनेसे वे भी इनका साथ नहीं छोड़ते। (ग) *'भूति'*—विभूतिका बड़ा माहात्म्य है, इसीसे विभूतिको वर्णन किया। (करुणासिंधुजीका मत है कि यह विभूति श्रीअवधकी है जो शरीरपर रमाये हैं। इससे आपकी परमोपासना दर्शित की है।) [भूति और भुजङ्गका सम्बन्ध शिवजीके सम्बन्धमें प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। यथा—*'सुकृति संभुतन बिमल बिभूती'*, *'भव अंग भूति मसानकी सुमिरत सुहावनि पावनी'*, *'तन बिभूति पट केहरि छाला'*, *'सोऽयं भूतिविभूषणः'*, *यस्योरसि व्यालराट्'*, *'कंठे भुजंगा'*, यहाँतक कि रुद्राष्टक भी *'भुजंग प्रयातवृत्त'* में किया गया है। (प० प० प्र०)]

नोट—१ *'त्रिपुरारी'* इति। (क) *'मुनि सन बिदा मागि त्रिपुरारी'* (१। ४८। ६) देखिये। (ख) भाव कि त्रिपुरको मारकर आपने त्रिलोकको सुख दिया है। (पं० रामकुमारजी) पुनः *'त्रिपुरारी'* का भाव कि 'मन' ही असुर है। उसके तीन पुर काम, क्रोध और लोभ अथवा, अर्थ-धर्म-काम

वा सत्त्व-रज-तम हैं, जिनमें वह क्षण-क्षण बना रहता है जब मनको उसके स्थानसहित नाश कर डाले तब परमतत्त्व-उपदेश कर सकता है। शिवजीने इन सबोंका नाश कर डाला है। (करु०) पुनः, *'त्रिपुरारी'* कहकर त्रिगुणात्मक मोहका नाशक जनाया। (वै०) पुनः भाव कि स्थूल-सूक्ष्म-कारण तीनों शरीर ही त्रिपुर हैं। त्रिपुरासुरके वधसे त्रैलोक्य सुखी हुआ, वैसे ही श्रीशिवजी जीवोंके स्थूल-सूक्ष्म-कारण तीनों शरीरों तथा काम-क्रोध-लोभ एवं त्रिगुणात्मक मोह आदिका नाश कर उनको भवबन्धनसे छुड़ानेवाले तथा सुखी करनेवाले हैं। (रा० प्र०)

टिप्पणी—३ *'आननु सरद चंद छबिहारी'* इति। (क) *'भुज प्रलंब परिधन मुनिचीरा'* यह शरीरके मध्यभागका वर्णन हुआ। *'आननु सरद चंद छबिहारी'* यह ग्रीवाके ऊपरका भाग वर्णन किया गया। ध्यान-वर्णन करनेकी एक रीति यह भी है। (ख) यहाँ आनन शरत्-चन्द्र है, श्रीरामकथा शशिकिरण है, (अथवा वाणी किरण है) यथा—*'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥'* (१। १२०। १) शरच्चन्द्र आतप हरता है; आननचन्द्र मोह-शरदातपका हरण करता है। [(ग) *'छबिहारी'* का भाव यह कि चन्द्रमा तो एक दिन ताप हरता है, दूसरे दिन सूर्य फिर तप्त कर देते हैं पर आपका मुखचन्द्र दैहिक, दैविक, भौतिक तीनों तापोंको चरितामृत देकर नष्ट ही कर देता है, फिर उन तापोंको कभी होने ही नहीं देता, यह विशेषता है। (करु०) (घ) इससे अत्यन्त अज्ञानतम-नाशक जनाया और विषयानलसे संतप्तोंके ताप हरण करनेवाले निश्चित कराया तथा भक्त-चकोरको सुखदायी व्यञ्जित किया। (रा० प्र०)

वि० त्रि०—*'तरुन अरुन अंबुज'* से *'मुनिमन मधुप'* का आश्रय कहा। *'भुजंग भूति भूषन'* से वैराग्य कहा। *'त्रिपुरारी'* से सत्यसंध कहा। *'चंद छबिहारी'* से सौन्दर्य कहा, भाव कि उनका चरित ही रसमय नहीं है, मूर्ति भी रसमयी है।

प० प० प्र०—१०६ (५—८) इन चार चौपाइयोंमें श्रीशिवजीके इस रूप और गुणोंमें माधुर्य ओजका सुन्दर मिश्रण है। यहाँ प्रसाद गुण भी सहज है। इन तीन गुणोंका रसभावाङ्कुर मधुर मिश्रण अन्य ग्रन्थोंमें मिलना दुर्लभ है।

दो०—जटा मुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन बिसाल।
नीलकंठ लावन्यनिधि सोह बाल बिधु भाल॥ १०६॥

शब्दार्थ—**सुरसरित**=देवनदी=गङ्गाजी। **नलिन**=कमल। **लावन्य** (लावण्य)=लुनाई; नमक, सुन्दरता। **लावन्यनिधि**=सुन्दरताके समुद्र वा खजाना। **बाल बिधु**=द्वितीयाका चन्द्रमा।

अर्थ—सिरपर जटाओंका मुकुट और गङ्गाजी सुशोभित हैं, नेत्र कमल-समान बड़े-बड़े हैं, कण्ठ नीला है, वे सौन्दर्य-निधान हैं, उनके ललाटपर द्वितीयाका चन्द्रमा शोभित है॥ १०६॥

टिप्पणी—१ भगवान् शंकरकी शोभा वर्णन कर रहे हैं, इसीसे यहाँ सब शोभा ही कही है। *'कुंद इंदु दर गौर सरीरा'* यह शरीरकी शोभा कही, *'भुज प्रलंब'* से भुजाओंकी शोभा कही, *'परिधन मुनिचीरा'* से कटिकी शोभा कही। (☞ जहाँ-जहाँ भयंकर रूप कहा गया है वहाँ-वहाँ नग्न कहा है। *'नगन जटिल भयंकरा'* (१। ९५) *'तरुन अरुन अंबुज सम चरना'* यह चरणोंकी शोभा है, *'नख दुति भगत हृदय तम हरना'* से नखकी शोभा कही, *'भुजग भूति भूषन'* यह शरीरकी शोभा है; यथा—*'गौर सरीर भूति भल भ्राजा।'* (१। २६८) *'आननु सरद चंद छबिहारी'* से मुखकी, *'जटा मुकुट……'* से सिरकी, *'लोचन नलिन……'* से नेत्रकी, *'नीलकंठ'* से कण्ठकी और *'बाल बिधु भाल'* से ललाटकी शोभा कही गयी।

नोट—१ (क) *'जटा मुकुट'* इति। यही उदासीनताका वेष है। शिवजी उदासीन रहते हैं, सबमें उनका समान भाव है, कोई शत्रु-मित्र नहीं। (वै०) पुनः भाव कि वक्ता भीतर-बाहरसे पहले स्वयं विरक्त स्वरूप धारण करे तब उपदेष्टा बनने योग्य हो; देवनदी गङ्गाको सिरपर धारण करनेका भाव कि किसीसे झूठ न बोले। (रा० प्र०) शिवजी सदा सत्य बोलते हैं। वे साक्षी हैं। (करु०) (ख) *'लोचन नलिन*

बिसाल' अर्थात् कमल-दल-समान लंबे। भाव कि नेत्र कृपारसभरे हैं, जिसमें श्रोताको आह्लाद हो। (वै०, करु०) ***'नीलकंठ'*** का भाव कि त्रैलोक्यपर दया करके जो कालकूट आपने पी लिया था उस दयालुताका चिह्न आज भी आपके कण्ठमें विराजमान है; उसीसे कण्ठ नीला पड़ गया। यथा—***'जरत सकल सुरबृंद बिषम गरल जेहिं पान किय।'*** (कि० मं० सो०) ***'पान कियो बिष भूषन भो।'*** (क० ७। १५७) ***'बिष भूति बिभूषन।'*** (क० उ० १५१) पुनः भाव कि यद्यपि विष जलाता है तब भी आप उसे त्यागते नहीं, अर्थात् जिसको एक बार अङ्गीकार कर लेते हैं फिर उसका त्याग नहीं करते। (रा० प्र० पं०) इससे भक्तवात्सल्य सूचित किया। ***'लावन्य' 'निधि'*** का भाव आगे दिया गया है। ***'सोह बाल बिधु भाल'*** इति। द्वितीयाका चन्द्रमा दीन, क्षीण तथा वक्र है; पर आपके आश्रित होनेसे आपने उसे भी जगद्वन्दनीय बना दिया। यथा **'यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।'** (मं० श्लो०३) पुनः भाव कि कैसा ही टेढ़ा क्यों न हो आप उसे उपदेश कर वन्दनीय बना देते हैं। (रा० प्र०)। द्विजचन्द्रदर्शन माङ्गलिक है, अतएव आपका दर्शन भी मङ्गलप्रद है। (करु०) मं० श्लो० ३ भी देखिये। ☞वक्ता कैसा वैराग्यवान् आदि होना चाहिये यह यहाँ दिखाया है। (करु०)*

टिप्पणी—२ ***'लावन्यनिधि'*** इति। शोभाके समुद्र हैं। समुद्रमें रत्न हैं। समुद्रमन्थनसे चौदह परमोत्तम रत्न निकले थे। इस प्रसंगमें भगवान् शंकरके स्वरूपमें कुछ रत्नोंका वर्णन किया है। जैसे कि—१ ***'नीलकंठ'*** से गरल (कालकूट), २ ***'बिधुभाल'*** से चन्द्र, ३ ***'कुंद इंदु दर गौर'*** से शङ्ख, ४ ***'प्रनत कलपतरु नाम'*** (आगे दोहा १०७ में)से कल्पवृक्ष, ५ ***'करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी। हरषि सुधा सम गिरा उचारी॥'*** (११२। ५) से अमृत—(रा० प्र० और वै० ***'बाल बिधु भाल'*** से ही अमृत-रत्नका ग्रहण करते हैं। प० प० प्र० रामकथा सुधाको लेते हैं जो उनके मुखसे टपकती है, यथा—***'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर'*** (६) ***'नखदुति'*** से मणि, यथा—***'श्रीगुर पद नख मनिगन जोती।'*** (१। १। ५।७) ***'पारबती भल अवसरु जानी। गईं संभु पहिं मातु भवानी।'*** (१०७। २) से लक्ष्मीका ग्रहण हुआ, यथा—**'या देवी सर्वभूतेषु लक्ष्मीरूपेण संस्थिता।'**† ८***'रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुखदानि'*** से कामधेनु रत्न कहा।‡

नोट—२ समुद्रसे चौदह रत्न निकले थे। यथा—**'लक्ष्मीः कौस्तुभपारिजातकसुराधन्वन्तरिश्चन्द्रमाः, गावः**

---

* प० प० प्र०— इस शिवरूपवर्णन तथा दोहा १०७ में उत्तम सद्गुरुके सभी लक्षण मिलते हैं। शिवजीने पार्वतीजीसे सद्गुरु-लक्षण ये कहे हैं—'सद्गुरुः परमेशानि शुद्धवेषो मनोहरः। सर्वलक्षणसम्पन्नः सर्वावयवशोभितः॥ १॥ सर्वागमार्थतत्त्वज्ञः सर्वतन्त्रविधानवित्। लोकसम्मोहनाकारो देववत् प्रियदर्शनः॥ २॥ सुमुखः सुलभः स्वच्छो भ्रमसंशयनाशकः। इंगिताकारवित् प्राज्ञ ऊहापोहविचक्षणः॥ ३॥ अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः सर्वज्ञो देशकालवित्। आज्ञासिद्धिस्त्रिकालज्ञो निग्रहानुग्रहक्षमः॥ ४॥ वेधको बोधकः शान्तः सर्वजीवदयाकरः। स्वाधीनेन्द्रियसंचारः षड्वर्गविजयप्रदः॥५॥ अग्रगण्योऽतिगम्भीरः पात्रापात्रविशेषवित्। शिवविष्णुसमः साधुर्मनुभूषणभूषितः॥ ६॥ निर्ममो नित्यसंतुष्टः स्वतन्त्रोऽनन्तशक्तिमान्। सद्भक्तवत्सलो धीरः कृपालुः स्मितपूर्ववाक्॥ ७॥ नित्ये नैमित्तिकेऽकाम्ये रतः कर्मण्यनिन्दिते। रागद्वेषभयक्लेशदम्भाहंकारवर्जितः॥ ८॥ स्वविद्यानुष्ठानरतो धर्मज्ञानार्थदर्शकः। यदृच्छालाभसंतुष्टो गुणदोषविभेदकः॥ ९॥ स्त्रीधनादिष्वनासक्तोऽसंगो व्यसनादिषु। सर्वाहंभावसन्तुष्टो निर्द्वन्द्वो नियतव्रतः॥ १०॥ ह्यलोलुपो ह्यसङ्गश्च पक्षपाती विचक्षणः। निःसंगो निर्विकल्पश्च निर्णीतात्मातिधार्मिकः। ११। तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी निरपेक्षो नियामकः। इत्यादि लक्षणोपेतः श्रीगुरुः कथितः प्रिये॥ १२॥' (हिन्दी-महायोगविज्ञान। ये श्लोक कुलार्णवतन्त्रके हैं, ऐसी स्मृति उत्स्फूर्त होती है) पाठक मानसवाक्योंसे तुलना कर लें।

† वै०— नेत्रकमलमें कृपारूप लक्ष्मी। रा० प्र०— विभूति ही लक्ष्मी है, क्योंकि विभूतिका अर्थ ऐश्वर्य भी है। प० प० प्र०—लक्ष्मी=उमा। ओः महेशस्य मा=उमा।

‡ वै० भृकुटी धनुष है, दयादृष्टि कामधेनु, उपदेशवचन धन्वन्तरि, भवरुजहर्ता कीर्ति उच्चैःश्रवा, कर कल्पतरु। प० प० प्र०—धन्वन्तरि=वैद्य। सद्गुरुवैद्य हैं, और शंकरजी 'त्रिभुवनगुरु बेद बखाना', 'गुरुं शंकररूपिणम्'। सुष्ठु गतिं ददाति इति सुरा अर्थात् सुरा=उत्तम वस्तुको देनेवाली। रामस्नेहरूपी सुरा इनके पास है। नागरिपुछालमें 'नाग' (गज) है।

कामदुघाः सुरेश्वरगजो रम्भादिदेवाङ्गनाः। अश्वः सप्तमुखो विषं हरिधनुः शङ्खोऽमृतञ्चाम्बुधेः, रत्नानीति चतुर्दश प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम्॥' (अज्ञात) परंतु इनमेंसे यह आठ रत्न शिवजीके योग्य जानकर ग्रन्थकारने इस प्रसंगमें दिये हैं, छ:को अयोग्य जानकर छोड़ दिये।

टिप्पणी—३ ☞ इस प्रसंगमें नाम, रूप, लीला और धाम चारों कहे हैं, इस तरह कि विवाह आदिका वर्णन लीला है, ***'परम रम्य गिरिबरु कैलासू। सदा जहाँ शिव उमा निवासू॥'*** यह धाम है, ***'कुंद इंदु दर गौर सरीरा'*** से ***'नीलकंठ लावन्यनिधि सोह बाल बिधु भाल'*** तक रूपका वर्णन है और आगे ***'प्रनत कलपतरु नाम।'*** (१०७) में नाम कहा गया।

वि० त्रि०—***'लावन्यनिधि'*** से शृंगार, ***'जटामुकुट'*** से हास्य, ***'कृपालु'*** से करुणा, ***'भुज प्रलंब'*** से वीर, ***'नखदुति भगत हृदय तम हरना'*** से अद्भुत, ***'त्रिपुरारि'*** से रौद्र, ***'भूतिभूषन'*** से बीभत्स, ***'भुजग भूषन'*** से भयानक और ***'निज कर डासि नागरिपु छाला। बैठे सहजहिं संभु कृपाला'*** से शान्तरस द्योतित किया। अथवा जटामुकुटसे तपस्वियोंका राजा, ***'सुरसरितसिर'*** से भक्तवत्सल, ***'लोचन नलिन बिसाल'*** से सर्वद्रष्टा, ***'नीलकंठ'*** से आर्तिहर, ***'लावन्यनिधि'*** से छबिधाम और ***'बाल बिधु भाल'*** से महिमाप्रद कहा।

लमगोड़ाजी—तुलसीदासजीकी काव्यमयी चित्रकलाका कमाल यह है कि उनके नखशिखवर्णनोंको विचारें तो सारे प्रसङ्गों और भावोंके परिवर्तन सामने आ जाते हैं। ऊपरके वर्णनकी शिवविवाहके समयके वर्णनसे तुलना कीजिये और आनन्द उठाइये।

बैठें सोह कामरिपु कैसें। धरें सरीरु सांतरसु जैसें॥ १॥
पारबती भल अवसर जानी। गईं संभु पहिं मातु भवानी॥ २॥

अर्थ—कामदेवके शत्रु श्रीशिवजी बैठे हुए कैसे सुशोभित हो रहे हैं, जैसे (मानो) शान्तरस ही शरीर धारण किये (बैठा) हो॥ १॥ अच्छा अवसर (मौका) जानकर (जगत्) माता भवानी श्रीपार्वतीजी श्रीशिवजीके पास गयीं॥ २॥

टिप्पणी—१ ***'बैठें सोह……'*** इति। (क) ☞'बैठे कहकर प्रसङ्ग छोड़ा था, यथा—***'बैठे सहजहिं संभु कृपाला।'*** (१०६। ५)। बीचमें स्वरूपका वर्णन करने लगे थे, अब पुनः वहींसे उठाते हैं—***'बैठें सोह……'।*** (ख) ***'बैठें सोह कामरिपु***—यहाँ ***'कामरिपु'*** कहकर शान्तरसकी शोभा कही। तात्पर्य कि जबतक काम-विकारसे रहित न हो तबतक शान्तरस नहीं आ सकता, जब कामका नाश होता है तब शान्तरसकी शोभा है। जब मनुष्य शान्त होता है तभी बैठता है, बिना शान्तिके दौड़ता-फिरता रहता है। (ग) ***'धरें सरीरु सांतरसु जैसें'*** इति। अर्थात् शिवजी शान्तरसके स्वरूप हैं। शान्तरस उज्ज्वल है और शिवजी भी गौरवर्ण हैं—[**'कर्पूरगौरम्', 'कुन्देन्दु कर्पूर दर गौर विग्रह'** (वि० १०), **'कंबु कुन्देन्दु कर्पूर गौरं'** (वि० १२)] तथा उनका सब साज ही उज्ज्वल है। यथा—(१) ***'कुंद इंदु दर गौर सरीरा'*** (शरीर उज्ज्वल), (२) ***'नख दुति भगत हृदय तम हरना'*** (नखद्युति उज्ज्वल), (३) ***'भुजग भूति भूषन त्रिपुरारी'*** (विभूति और शेष दोनों उज्ज्वल), (४) ***'आनन सरदचंद छबिहारी'*** (मुख चन्द्रसमान प्रकाशित), (५) ***'सुरसरित सिर'*** [सुरसरित भी शुक्लवर्णा हैं—***'भ्राज बिबुधापगा आपु पावन परम मौलि मालेव सोभा विचित्रं'***—(वि० ११)], (६) ***'बिधु भाल'*** (चन्द्रमा भी शुक्लवर्ण)। (घ) ***'कुंद इंदु दर गौर'*** से स्वरूपका वर्णन उठाकर ***'बाल बिधु भाल'*** पर समाप्त किया। इस तरह प्रथम शिवजीका शुक्लरूप वर्णन करके तब शान्तरसकी उपमा दी।

नोट—१ (क) श्रीबैजनाथजी शान्तरसका वर्णन यों करते हैं—***'शास्त्र चिंत हरि-गुरु-कृपा है बिभाव सत्संग। अनूभाव नासाग्र दृग सात्विक सकल अभंग। मति धृति अरु निर्वेदता अपस्मृती संभ्रांति। वितर्कादि संचार सब स्थायी मति शांति॥'*** शान्तका देवता परब्रह्म है, शिवजीके भी देवता परब्रह्म हैं, परमात्मा आलम्बन और आत्मतत्त्व उद्दीपन है। (ख) मा० म० के मतसे यहाँ निर्वेद (मनका वैराग्ययुक्त होना) स्थायी, रामतत्त्वका ज्ञान अनुभाव (शान्तरसको अनुभव करानेवाला), वट उद्दीपन और क्षमा विभाव है जो रसको प्रकट कर रहा है। करुणाकण जो तनमें विराजमान है वही संचारी है। इस रसके स्वामी ब्रह्म हैं। अतएव श्रीशिवजी

अपने स्वामीकी अभङ्ग कथा कहेंगे। (ग) रसरत्नहारमें 'शान्तरस' का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—'**सम्यग्ज्ञानसमुद्भूतः शान्तो निस्पृहनायकः। रागद्वेषपरित्यागात्सम्यग्ज्ञानसमुद्भवः॥**' अर्थात् शान्तरस जिसका नायक निस्पृह रहता है, उसकी उत्पत्ति उस सम्यक् ज्ञानसे है, जो रागद्वेषके परित्यागसे उत्पन्न होता है।

नोट—२ (क) ***'कामरिपु'*** का भाव कि कामना अनेक दुःख उत्पन्न करती है, आप उनके निवारक हैं। अर्थात् श्रोताके हृदयसे कामनाओंको निर्मूल कर देनेको समर्थ हैं। (रा० प्र०) ***'धरें सरीर सांतरस जैसें'***—शान्त होकर बैठना भी उपदेशहेतु है। इससे जनाते हैं कि बिना शान्तचित्त हुए उपदेश लगता नहीं। अथवा, काम हरिकथाका बाधक है, यथा—***'क्रोधिहि सम कामिहिं हरिकथा। ऊसर बीज बए फल जथा॥'*** अतः ***'कामरिपु'*** विशेषण दिया। (रा० प्र०)। तात्पर्य यह कि वक्ता और श्रोता दोनों निर्विकार हों। (पं० रा० कु०) (ख) पुनः भाव कि 'उनका भोगविलास भी कामाभास है, सो भी देवताओंके कल्याणके लिये है' (वि० त्रि०) ☞***'बैठें सोह''''''सांतरस जैसें'*** इति। क्योंकि इसी अवस्थामें श्रीरामकथाका वर्णन हुआ, इसलिये उसमें शान्तरस प्रधान है। कविका कमाल है कि नवों रसोंको पूरे जोरमें लिखता है, जो नाटकीय कलाकी विशेषता है, पर हर रसको शान्तरसके इसी कैलासशिखरपर मानो पहुँचा देता है, जो महाकाव्यमें होना ही चाहिये। (लमगोड़ाजी) (ग) प्रथम चरणमें उपमेय वाक्य देकर फिर वाचक शब्द ***'जैसें'*** द्वारा उसकी विशेषसे समता दिखाना 'उदाहरण' अलङ्कार है।

टिप्पणी—२ (क) ☞ कथाके प्रारम्भ-समय शिवजीका स्थान और स्वरूप वर्णन किया। इसीके द्वारा, इसीके व्याजसे ग्रन्थकारने कथाके स्थान और वक्ताओंके लक्षण कहे हैं। (ख) ***'परम रम्य गिरिबरु कैलासू। सदा जहाँ शिव उमा निवासू॥ ''''''तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला। नित नूतन सुंदर सब काला॥'*** से जनाया कि कथाका स्थान ऐसा होना चाहिये। अब उदाहरण सुनिये। (१) ***'भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिबर मन भावन॥ तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा।'*** (१। ४४) (२) ***'सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी।। बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा।'*** (१। ३५) (३) ***'गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सयल एक सुंदर भूरी। तासु कनकमय सिखर सुहाए। चारि चारु मोरे मन भाए॥ तिन्ह पर एक एक बिटप बिसाला। बट पीपर पाकरी रसाला॥ सैलोपरि सर सुंदर सोहा। मनि सोपान देखि मन मोहा।'*** (७। ५६) (४)***'मंगलरूप भयउ बन तब तें। कीन्ह निवास रमापति जब तें॥ फटिकसिला अतिसुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ द्वौ भाई॥ कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नृपनीति बिबेका॥'*** (४। १३। ५—७) इत्यादि।

☞(ग) वक्ता कैसा होना चाहिये सो सुनिये।—(१) ***'निज कर डासि नागरिपु छाला'***। ऐसा निरभिमान और कृपालु होना चाहिये। (२) ***'बैठें सोह कामरिपु कैसें। धरें सरीरु सांतरसु जैसें॥'*** —ऐसा स्वरूप हो और निष्काम हो।

(घ) वक्ताके सात लक्षण कहे गये हैं। यथा—'**विरक्तो वैष्णवो विप्रो वेदशास्त्रविशुद्धिकृत्। दृष्टान्तकुशलो धीरो वक्ता कार्योऽतिनिस्पृहः॥**' इन सातोंको श्रीशिवजीमें घटित दिखाते हैं।—(१) विरक्त, यथा—'**जोग ज्ञान वैराग्य निधि।**' १०७। (२) वैष्णव, यथा—***'सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी।'*** (११९। २) (३) विप्र यथा—'**वन्दे ब्रह्मकुलं कलङ्कशमनम्**' (३ मं० श्लो० १) (४) '**वेदशास्त्रविशुद्धिकृत्**' यथा—***'सकल कला गुन धाम।'*** १०७। (५) दृष्टान्तकुशल, यथा—***'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें।।'*** (११२। १) ***'जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी'***। (११७। २) ***'उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा।'*** (११७। ४) इत्यादि। (६) धीर, यथा—***'बैठें सोह कामरिपु कैसें। धरें सरीरु सांतरसु जैसें॥'*** (७) निस्पृह, यथा—***'कामरिपु'*** अर्थात् निष्काम।

प० प० प्र०—शिवजी जहाँ बैठे हैं वहाँ ***'संत बिटप सरिता गिरि धरनी'*** इन पञ्च परोपकारियोंका सम्मेलन हुआ है। यथा—***'शिव बिश्राम बिटप,' 'परम रम्य गिरिबर कैलासू', 'सुंदर सिर गंगा'***। और पृथ्वीपर तो बैठे ही हैं। शिवजी स्वयं संतशिरोमणि हैं ही। संतोंके लक्षण उनमें भरपूर हैं।

टिप्पणी—३ ***'पारबती भल अवसरु जानी।''''''*** इति। (क) अच्छा अवसर यह कि भगवान् शंकर

सब कृत्यसे अवकाश पाकर एकान्तमें बैठे हैं। अपना मोह प्रकट करना है, इसलिये एकान्त चाहिये। श्रीभरद्वाजजीने भी अपना मोह श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे एकान्तमें कहा था, जब सब मुनि चले गये थे, क्योंकि सबके सामने अपना मोह कहनेमें लज्जा लगती है; यथा—*'कहत सो मोहि लागत भय लाजा।'* (१। ४५। ८) जब शिवजी वटतले आये थे तब उनके साथ कोई न था, अपने हाथों उन्होंने बाघाम्बर बिछाया और जब पार्वतीजी आयीं तब भी वहाँ कोई और न आया था। स्त्री-पुरुषका एकान्त है यह समझकर आयीं। (रा० प्र० का मत है कि सुन्दर दिन, मुहूर्त, तिथि, नक्षत्र आदि और शिवजीको प्रसन्न बैठे जानकर आयीं) (ख) *'भल अवसर'* जानकर गयीं; क्योंकि समयपर काम करना चाहिये, समयपर ही कार्य करनेकी प्रशंसा है, यथा—*'समयहि साधे काज सब समय सराहहिं साधु'* (दोहावली ४४८) [सब लोगोंने अवसर देखा है, वैसे ही पार्वतीजीने अवसर देखकर काम किया। उदाहरण, यथा—*'अवसरु जानि सप्तरिषि आए। तुरतहिं बिधि गिरि भवन पठाए॥'* (१।८९)*'सो अवसरु बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना।* (१। ९९१)।*'सीय मातु तेहि समय पठाईं। दासीं देखि सुअवसरु आईं॥'* (२। २८१) *'ऐसे प्रभुहि बिलोकउँ जाई। पुनि न बनिहि अस अवसरु आई।'* (३। ४१) *'अवसर जानि बिभीषनु आवा। भ्राता चरन सीसु तेहि नावा।'* (५। ३८) *'देखि सुअवसर प्रभु पहिं आयउ संभु सुजान॥'* (६। ११३)]

अवसरपर कार्य करनेसे कार्य सिद्ध होता है और संत तथा जगत् सराहता है। यथा—*'लाभ समयको पालिबो, हानि समयकी चूक। सदा बिचारहिं चारु मति सुदिन कुदिन दिन टूक॥'* (दोहावली ४४४) *'अवसर कौड़ी जो चुकै, बहुरि दिये का लाख। दुइज न चंदा देखिय, उदौ कहा भरि पाख॥'* (दो० ३४४) *'समरथ कोउ न राम सों, तीय हरन अपराधु। समयहि साधे काज सब, समय सराहहिं साधु।'* (दो० ४४८) इत्यादि। (ग) *'पारबती'* नामका भाव कि ये पर्वतराजकी कन्या हैं। पर्वत परोपकारी होते हैं, यथा—*'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥'* अत: ये भी शिवजीके पास जगत्का उपकार करनेके विचारसे आयी हैं, यथा—*'कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी।।'* [नदी पर्वतसे निकलती है और समुद्रमें जा मिलती है। वाल्मीकीयरामायणके सम्बन्धमें कहा गया ही है—'**वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी।**' वैसे ही श्रीरामचरितमानस कथारूपिणी नदी आप (पार्वतीजी)के द्वारा निकलकर श्रीरामराज्याभिषेक-प्रसंगरूपी समुद्रमें जा मिलेगी।—यह 'पार्वती' शब्दसे जनाया] (घ) *'गईं संभु पहिं मातु भवानी'* इति। *'भवानी'* (भवपत्नी) हैं, अतएव सबकी माता हैं। सबके कल्याणके लिये गयी हैं, इसीसे 'शंभु' पद दिया अर्थात् कल्याणकर्त्ताके पास गयीं। (माता पुत्रोंका सदा कल्याण सोचती, चाहती और करती है। ये जगज्जननी हैं, अतएव ये जगत्-मात्रका कल्याण सोचकर कल्याणके उत्पत्तिस्थान एवं कल्याणस्वरूप 'शंभु' के पास गयीं। 'शंभु' के पास गयी हैं, अत: अब इनका भी कल्याण होगा। शिवजी अब इनमें पत्नीभाव ग्रहणकर इनका वैसा ही आदर करेंगे।)

जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा। बाम भाग आसनु हर दीन्हा॥ ३॥
बैठीं शिव समीप हरषाई। पूरुब जन्म कथा चित आई॥ ४॥

अर्थ—प्रिय पत्नी जानकर शिवजीने उनका अत्यन्त आदरसम्मान किया। अपनी बायीं ओर बैठनेको आसन दिया॥ ३॥ श्रीपार्वतीजी प्रसन्न होकर शिवजीके समीप (पास, निकट) बैठ गयीं। (तब उनको अपने) पूर्व (पिछले) जन्मकी कथा स्मरण हो आयी॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'जानि प्रिया……'* इति। (क) *'जानि प्रिया'* का भाव कि प्रियाका आदर सब कोई करते हैं। ये शिवजीकी प्रिया हैं; यथा—*'अस जानि संसय तजहु गिरिजा सर्बदा संकर प्रिया।'* (१। ९८) *'दुखी भयउ बियोग प्रिय तोरें।'* (७। ५६) (ख) पूर्व सतीतनमें जब सीतारूप धारण किया था तब शिवजीने माता मानकर सम्मुख आसन दिया था।—*'जाइ संभुपद बंदनु कीन्हा। सनमुख संकर आसनु दीन्हा।'* (१। ६०। ४) अब प्रिया जानकर वामभागमें आसन दिया। क्योंकि त्याग उसी शरीरका था जिससे सीतारूप धारण किया था; यथा—*'एहि तन सतिहि भेट मोहि नाहीं।'* (५७। २) [(ग) रा० प्र०

कारका मत है कि प्रियाके मनकी बात जानकर कि श्रीरामकथा पूछने आयी हैं उनका अति आदर किया।] (घ) *'आदरु अति कीन्हा'* इति। हँसते और प्रिय वचन कहते हुए स्वागत करना, योग्य आसन देना, इत्यादि ही 'अति आदर' है। [(ङ) *'बाम भाग……'* इति। यहाँ *'अति आदरु'* का अर्थ खोल दिया। बायीं ओर अपने पास बिठाना यही *'अति आदर'* का स्वरूप है; यथा—*'अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपाल खरारी।'* (६। ३७। ४) इत्यादि। यहाँ 'हर' शब्दके श्लेषद्वारा ग्रन्थकार गुप्त रीतिसे यह भी दिखा रहे हैं कि इन्होंने पार्वतीजीके पूर्व (सती) शरीरमें उनका योग्य (वामभागका) आसन जो हर लिया था, यथा—*'सनमुख संकर आसन दीन्हा'*, वह 'हर लिया हुआ' आसन फिर दिया। अर्थात् पार्वतीतनमें माता-भाव नहीं रखा। श्लिष्ट शब्दद्वारा किसी पूर्व कहे हुए गुप्त अर्थको कविका स्वयं खोलना *'विवृतोक्ति अलंकार'* है।]

टिप्पणी—२ *'बैठीं शिव समीप हरषाई।……'* इति। (क) *'समीप'* अर्थात् वामभागमें उनके पास ही। *'हरषाई'* का भाव कि सतीतनमें जब सम्मुख आसन दिया था तब दुःखी हुई थीं, अब वामभागमें आसन पानेपर हर्ष हुआ, क्योंकि इससे सूचित हुआ कि शिवजीने हमारे पूर्वके अपराध क्षमा कर दिये। (ख) *'पूरुब जन्म कथा चित आई'*—भाव कि जब वाम भागमें आसन दिया तब *'सनमुख आसन'*-वाली बातकी सुध आयी कि पूर्वजन्ममें हमें श्रीरामजीमें मोह हुआ था, तब इन्होंने सम्मुख आसन दिया था, इत्यादि। [(ग) मा० म० कार तथा रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'इसी वटतले सतीजीका अपमान हुआ था, अर्थात् अनादरपूर्वक शिवजीने सम्मुख आसन दिया था, जो पार्वतीजन्मका हेतु हुआ। अब आदर करके बैठाया, तब सती-अवतारकी कथा याद पड़ी'।]

श्रीशिवजी तथा श्रीपार्वतीजीका मिलान

श्रीशिवजी	श्रीपार्वतीजी
बैठे सहजहिं संभु कृपाला	१ *बैठीं शिव समीप हरषाई*
धरें शरीर सांतरसु जैसें	२ *'मातु भवानी'* कहकर शांतरस जनाया
एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ	३-४ *पारबती भल अवसरु जानी। गईं संभु पहिं*
हर हिय रामचरित सब आए	५ *पूरुब जन्म कथा चित आई*
तरु बिलोकि उर अति सुख भयऊ	६ *बैठीं शिव समीप हरषाई*

पति हिय हेतु अधिक अनुमानी*। बिहसि उमा बोलीं प्रिय† बानी॥ ५॥
कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥ ६॥

अर्थ—पतिके हृदयमें (अपने ऊपर पूर्वकी अपेक्षा) अधिक स्नेह अनुमान कर श्रीउमाजी हँसकर प्रिय वाणी बोलीं॥ ५॥ जो समस्त लोकोंका कल्याण करनेवाली है वही कथा श्रीगिरिजाजी पूछना चाहती हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'पति हिय हेतु……'* इति। (क) शिवजीने उमाजीका *'अति आदर'* किया; इसीसे *'अधिक हेतु'* कहा। हेतु=स्नेह, प्रेम। (ख) *'बिहसि'* अर्थात् प्रसन्न होकर। तात्पर्य कि पतिकी प्रसन्नता चाहती ही थीं, सो मिल गयी, अतः प्रसन्न हुईं। [श्रीकरुणासिन्धुजी हँसनेका कारण 'पिछला तिरस्कार, अपनी अज्ञानता और अब अपनी सम्मुखता तथा शिवजीकी प्रसन्नताका अनुमान कि ऐसे दयालु हैं कि मेरी समस्त चूक क्षमा कर दी', यह सब बताते हैं। बैजनाथजी लिखते हैं कि पूर्वकी अपेक्षा अधिक स्नेह अनुमान करनेपर हृदयसे आनन्दसिन्धु उमड़ा, जिसका प्रवाह बाहर आनेपर हँसीद्वारा प्रकट हुआ। वि० त्रि० का मत है कि पूर्वजन्मकी कथाकी स्मृतिसे हँस पड़ीं।] (ग) *'अनुमानी'*=मनमें मानकर अर्थात् मनमें निश्चय करके (बोलीं)। ☞ इस कथनका तात्पर्य यह है कि जबतक वक्ता हृदयसे प्रसन्न न हो तबतक प्रश्न न करना चाहिये। (घ) पार्वतीजी अवसर जानकर आयीं और अवसर पाकर बोलीं। (शिवजीका अपने ऊपर प्रेम और प्रसन्न देखकर बोलना ही अवसर पाकर बोलना है।) (ङ) यहाँ पार्वतीजीके मन, वचन और कर्म तीनों लगे हुए दिखाये हैं। *'बिहसि'* से मनकी प्रसन्नता

* मनमानी—१७२१, १७६२। मन माहीं—छ०, बन्दन पाठक। अनुमानी-१६६१, १७०४, को० रा०।
† मृदु बानी—१७२१, १७६२, को० रा०। प्रिय बानी-१६६१, १७०४।

कही, वचन *'प्रिय'* है और *'बोलीं कर जोरी'* यह कर्म है। हाथ जोड़ना आगे स्पष्ट है; यथा—*'करहु कृपा बिनवौं कर जोरें।'* (१०९। ५) *'बंदौं पद धरि धरनि सिरु बिनय करौं कर जोरि।'* (१०९)

टिप्पणी—२ *'कथा जो सकल लोक……'* इति। (क) लोकहितकारिणी कथा पूछना चाहती हैं, इसीसे 'शैलकुमारी' कहा। शैल परोपकारी हैं—*'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥* उनकी ये कन्या हैं अतः परोपकारिणी हैं, वह कथा पूछती हैं जिससे जीवोंका उपकार होगा। यथा—*'धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी॥ पूछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥'* (१। ११२) कथा समस्त लोकोंका हित करनेवाली है, अर्थात् सबको पवित्र करनेवाली है। [विशेष *'पारबती भल अवसरु जानी'* चौ० २ में देखिये। (ख) 'शैलकुमारी' का लोकहितकारिणी कथाका पूछना योग्य ही है। यह कारणके समान कार्यका वर्णन 'द्वितीय सम' अलङ्कार है, यथा—*'कारणके सम बरणिये कारजको जेहि ठौर। देखि सरिस गुन रूप तहँ बरनत हैं सम और॥'* (अ० मं०) 'शैलकुमारी' संज्ञा साभिप्राय होनेसे 'परिकराङ्कुर' की ध्वनि व्यंजित होती है। (वीरकवि)]

प० प० प्र०—जो सज्जन परहित करता है उसके मनमें स्वप्नमें भी यह कल्पना स्पर्श नहीं करती कि मैं लोकहित या परोपकार करूँगा। दूसरोंका दुःख या अहित देखकर सन्तोंका हृदय दुःखी होता है और वे अपने हृदयको शान्ति देनेके लिये ही दूसरोंका दुःख निवारण और परोपकार करते रहते हैं। विटप, सरिता, गिरि, धरणीका जैसे सहज स्वभाव है परोपकार करना, वैसे ही यह सन्तोंका सहज स्वभाव है, उनसे रहा ही नहीं जाता; वे तो शत्रुओंका भी दुःख दूर करनेका प्रयत्न करते हैं। शैलजा तो अपने हृदयकी असम्भावना, मोह आदिसे छुटकारा पानेके लिये ही प्रश्न करती हैं। पर सन्तोंका प्रत्येक महत्त्वका कर्म स्वाभाविक ही लोकोपकारक ही ठहरता है। अतएव इन शब्दोंसे यह भाव न समझ लेना चाहिये कि वे लोकोपकारहेतु कथा पूछती हैं।

बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी॥ ७॥
चर अरु अचर नाग नर देवा। सकल करहिं पद पंकज सेवा॥ ८॥

अर्थ—हे विश्वके स्वामी! हे मेरे नाथ! हे त्रिपुरासुरके नाशक! आपकी महिमा तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है॥ ७॥ चेतन और जड़, नाग, मनुष्य और देवता (तीनों लोकोंके निवासी) सभी आपके चरणकमलोंकी सेवा करते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'बिस्वनाथ मम नाथ……'* इति। (क) *'बिस्वनाथ'* का भाव कि आप संसारभरके स्वामी हैं; अतः संसारभरका कल्याण करना आपका कर्त्तव्य है सो कीजिये, सकल लोकहितकारिणी कथा कहिये। (सकल लोकहितकारिणी कथाके सम्बन्धसे *'बिस्वनाथ'* कहा और अपनी विशेषतानिमित्त फिर *'मम नाथ'* कहती हैं।) (ख) 'विश्वनाथ' कहकर फिर अपनेको पृथक् कर *'मम नाथ'* अर्थात् अपना नाथ कहनेका भाव कि मैं अपने नाथकी नाईं पूछ रही हूँ, विश्वनाथके नातेसे नहीं पूछती हूँ। आप मेरे नाथ पृथक् करके हैं, यथा—*'सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछउँ निज प्रभुकी नाईं॥'* (३। १४। ६) (श्रीलक्ष्मण-वचन श्रीरामप्रति)। तात्पर्य कि अपने नाथसे जोर अधिक है। पुनः भाव कि विश्वके स्वामी जगत्भरका पालन-पोषण-कल्याण करते हैं, फिर भी जगत्की अपेक्षा अपने जनपर विशेष कृपा करते हैं; यथा *'नर नारायन सरिस सुभ्राता। जग पालक बिसेषि जन त्राता॥'* (१। २०। ५) अतएव *'मम नाथ'* कहकर अपने ऊपर विशेष कृपा चाहती हैं।) (ग) *'मम नाथ'* अर्थात् आप मेरे पति हैं, अतः मेरे भ्रम-संशय-मोहको दूर करना आपका कर्त्तव्य है, उसे दूर कीजिये। यथा—*'ससि भूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी॥'* (१०८। ४) *'अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू। जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू। ……अजहूँ कछु संसउ मन मोरें। करहु कृपा बिनवौं कर जोरें॥'* (१०९। २,५)। ☞ ऐसा ही सब श्रोता कहते हैं। यथा—*'नाथ एक संसउ बड़ मोरें। करगत बेद तत्त्व सब तोरें॥ अस बिचारि प्रगटौं निज मोहू। हरहु नाथ करि जन पर छोहू॥ ……जैसे मिटै मोह भ्रम भारी। कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी।'* (१। ४५—४७) (भरद्वाज), *देखि परम पावन तव आश्रम। गयउ मोह संसय नाना भ्रम॥ अब श्रीरामकथा अति पावनि। सदा सुखद दुखपुंज नसावनि॥ सादर तात सुनावहु मोही। बार बार बिनवउँ*

प्रभु तोही॥' (७। ६४) (गरुड) (घ) *'पुरारी'* इति। भाव कि त्रिपुरासुर तीन पुरोंमें तीनों लोकोंमें रहता था, आपने उसके तीनों पुरोंसहित उसका नाश किया। वैसे ही मोह, संशय और भ्रम—ये तीन पुर हैं जिनमें शोकरूपी त्रिपुरासुर रहता है, आप तीनों पुरों (मोहादि) सहित शोकका नाश करके मुझे सुख दें। पुनः भाव कि त्रिपुरासुर तीनों लोकोंको पीड़ित किये था। आपने उसे मारकर तीनों लोकोंको सुखी किया, वैसे ही वह कथा कहिये जिससे तीनों लोकोंको सुख हो। (रा० प्र०)] त्रिपुरकी कथा—१। ४८। ६ *'मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी'* में देखिये। ☞शोक, मोह, संदेह और भ्रम—ये चारों शिवजीकी उक्तिमें स्पष्ट हैं। यथा—*'राम कृपा तें पारबति सपनेहु तव मन माहिं। सोक मोह संदेह भ्रम मम बिचार कछु नाहिं॥'* (१। ११२) शिवजीने जो यह कहा है कि *'मम बिचार कछु नाहिं',* उसमें भाव यह है कि शिवजीके विचारमें त्रिपुर कुछ नहींहीके समान है। (च) 'विश्वनाथ' *'मम नाथ'* कहनेके बाद *'पुरारी'* कहनेका भाव कि आपने त्रिपुरासुरका वध करके विश्वका हित किया, शोक-मोह-सन्देह-भ्रमका नाश करके मेरा हित कीजिये। कथासे विश्वका और मेरा, दोनोंका हित है, पुनः *'पुरारी'* कहकर जनाया कि पूर्वकालमें आपने तनसे विश्वका हित किया है, अब कथा कहकर वचनसे विश्वका हित कीजिये, क्योंकि यह कथा *'सकल लोक हितकारी'* है जो मैं पूछना चाहती हूँ। (छ) *'त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी'* इति। कौन महिमा विदित है? एक तो त्रिपुरवधकी (क्योंकि त्रिपुरासुर तीनों लोकोंको नाकों चना चबवाता था, उसके वधसे तीनों लोकोंमें महिमा विख्यात हुई) दूसरी महिमा आगे कहते हैं *'चर अरु अचर नाग नर देवा। सकल करहिं पदपंकज सेवा॥'* इत्यादि। पुनः त्रिभुवनमें महिमा विदित है, इसीसे त्रैलोक्यनिवासियों (नाग, नर, देव) का सेवा करना लिखा।

टिप्पणी—२ *'चर अरु अचर नाग……'* इति। (क) यहाँ चर और अचर दोनोंको कहा। चेतन जीवोंका सेवा करना तो ठीक है पर अचर (जड़ पदार्थ) की सेवा कैसे सम्भव है? ये किस प्रकार सेवा करते हैं? उत्तर यह है कि भक्त चाहे कहीं किसी योनिमें क्यों न रहें वे कहीं भी सेवा नहीं छोड़ते, उसी योनिमें रहकर भगवान्‌का स्मरण करते रहते हैं, जैसा कि कहा है—(१) *'जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईस देउ यह हमहीं॥ सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥ अस अभिलाष नगर सब काहू।'* (२।२४) (अवधपुरवासी)

(२) *'जेहि जोनि जनमौं कर्म बस तहँ रामपद अनुरागऊँ।'* (४। १०) (बालि)

(३) *'खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। एहि नातें नरकहुँ सचु पेहौं या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं॥'* (विनय २३१ गोस्वामीजी) यदि *'तरु'* से सेवा न हो सकती तो ऐसा कदापि न कहते। वृक्षोंकी सेवा यह है कि फूल और छाया खूब दें। भगवान्‌की सेवा वनमें जड़ पदार्थोंने की ही है; यथा—*'फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना। मंजु बलित बर बेलि बिताना॥'* (२। १३७) *'सब तरु फरे रामहित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥'* (६। ५। ५) अयोध्याकाण्डमें मेघों, वृक्षों और तृण आदिकी सेवा सबने पढ़ा ही है। यथा—*'भइ मृदु महि मगु मंगलमूला॥ किए जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात। तस मग भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात॥'* (२। २१६) *'भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीं॥ कुस कंटक काँकरी कुराईं। कटुक कठोर कुबस्तु दुराईं॥ महि मंजुल मृदु मारग कीन्हें। बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हें॥ सुमन बरषि सुर घन करि छाहीं। बिटप फूलि फलि तृन मृदुताहीं॥ मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल रामप्रिय जानी॥'* (२। ३११) दोहावलीमें भी कहा है—*'बिनु ही रितु तरुवर फरै सिला द्रवै जल जोर॥'* [पुनः यहाँ 'जड़' शब्द न देकर 'अचर' शब्द दिया है। एक तो 'चर' के सम्बन्धसे। दूसरे 'अचर' शब्द देकर जनाया कि जो मनुष्यादिकी तरह इधर-उधर जा-आ नहीं सकते, परन्तु जिनमें जीवात्मा (चेतन) रहा करता है। जब स्वामी उनके पास आते हैं, तब वे (अचर) उनकी सेवा करते हैं।] (ख) कैलासवासी जो सुकृती हैं, उनका शिव-सेवक होना कह आये—*'सिद्ध तपोधन'''सेवहिं शिव सुखकंद।'* (१०५) और अब यहाँ *'चर……'* से अन्य सब स्थानोंके लोगोंको कहते हैं जो कैलासमें बास नहीं करते, वरंच अन्यत्र रहकर सेवा करते हैं। (ग) *'नाग नर*

देवा'—नागसे पाताल (क्योंकि ये पातालमें रहते हैं), नरसे मर्त्यलोक और देवसे स्वर्गलोक अर्थात् त्रैलोक्यनिवासी चराचर जीवोंका सेवा करना दिखाकर शङ्करजीको त्रिभुवनगुरु जनाया; यथा—*'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना। आन जीव पाँवर का जाना॥'* (१११। ५) (घ) *'सकल करहिं'''''''*; यथा—*'संकर जगत बंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥'* (५०। ६) सेवाका हेतु आगे दोहेमें भी कहा है।

प० प० प्र०—यहाँ *'सकल करहिं पद पंकज सेवा'* के *'सकल'* शब्दपर ध्यान देना आवश्यक है। भाव यह है कि महेश जगदात्मा हैं—*'जगदात्मा महेस पुरारी'*। प्रत्येक प्राणी, चर हो वा अचर, अपने सुखके लिये रात-दिन प्रयत्नशील रहता है, यही प्रभुकी सेवा है। कोई विरला ही यह जानता है कि **'आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्। पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः॥ संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरः। यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥'**—भले ही कोई जाने या न जाने पर आत्माके सुखके लिये ही सब कुछ किया जाता है। कोई मार्ग भूलकर करता है और कोई उचित मार्गसे जान-बूझकर करता है, इतना ही भेद है।

दोहा—प्रभु समरथ सर्बग्य शिव सकल कला गुन धाम।
जोग ज्ञान बैराग्य निधि प्रनत कलपतरु नाम॥ १०७॥

अर्थ—हे प्रभो! आप समर्थ, सर्वज्ञ, कल्याणस्वरूप, सम्पूर्ण कलाओं और गुणोंके धाम और योग, ज्ञान तथा वैराग्यके समुद्र भण्डार या खजाना हैं। आपका नाम शरणागतोंके लिये कल्पवृक्ष है॥ १०७॥

टिप्पणी—१ (क) पहले 'विश्वनाथ' कहकर समस्त ब्रह्माण्डका नाथ कहा, अब *'प्रभु'* कहकर ब्रह्माण्डमें जो जीव बसे हुए हैं, उनका नाथ कहती हैं। (ख) *'समरथ'* अर्थात् रामकथा कहने तथा भ्रम दूर करनेको समर्थ हैं, क्योंकि सर्वज्ञ हैं; कल्याणस्वरूप हैं, सकल कलाओं और गुणोंके धाम हैं [अर्थात् सब कलाओंसहित विद्याका आपमें निवास है, इत्यादि। कला—*'सकल कला सब बिद्या हीनू।'* (१। ९। ८) देखिये। 'समर्थ'-से उत्पत्ति-पालन-संहार करने तथा शापाशीर्वादादि देनेको समर्थ जनाया (वै०)। पुनः, *'सर्बज्ञ'* से ज्ञानकी निरतिशयता कही, *'जोग ज्ञान बैराग्य निधि'* से जगद्गुरु होना द्योतित किया। (वि० त्रि०)]

नोट—१ करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'चन्द्रमा जब सोलह कलाओंसे पूर्ण हो तब पूर्णिमा होती है। *'सकल कला गुन धाम'* कहकर शिवजीका सदा षोडश कलाओं और अनन्त गुणोंसे पूर्ण होना यहाँ जनाया है।' बैजनाथजी *'चौंसठ कला वा षोडश कला'* ऐसा अर्थ करते हैं। सोलह कलाएँ; यथा—*'धर्मैश्वर्य यश मोक्ष श्री शरण रक्ष बिरतीस। पोषण भरणोत्पत्तिस्थिति लयाधार रिपुखीस॥'* (बै०)

टिप्पणी—२ *'प्रनत कलपतरु नाम'* अर्थात् प्रणत आपका नाम जपकर चारों पदार्थ प्राप्त करते हैं। चर-अचर आदि जो पूर्व गिना आये वे सभी प्रणत हैं, ये सब पाद-सेवन-भक्ति करते हैं, नाम जपते हैं और मनोरथ पाते हैं। ('नाम' उपमेयमें, कल्पतरु उपमानके गुण स्थापन करनेमें 'द्वितीय निदर्शना' अलङ्कार है।)

प० प० प्र०—ये सब विशेषण श्रीरामजीमें भी पाये जाते हैं। प्रभु समर्थ; यथा— *'प्रभु समरथ कोसलपुर राजा।'* (३। १७। १४) सर्वज्ञ यथा—*'सुनु सर्बज्ञ कृपा सुखसिंधो।'* (७। १८। १) *शिव*=सच्चिदानन्द, *'राम सच्चिदानंद दिनेसा।'* (१। ११६। ५) सकल कला, यथा—*'अलप काल सब बिद्या आई।'* (१। २०४। ४) *गुन धाम,* यथा—*'बिनय सील करुना गुन सागर।'* (१। २८५। ३) *'जोग ज्ञान बैराग्य निधि'* यथा—*'कोसलपति भगवान',* भगवान्‌में योग, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, धर्म और श्री—इन छः गुणोंका निधि ही रहता है। *'प्रनत कलपतरु नाम'* यथा—*'नाम कामतरु काल कराला।'* (२७। ५) *'प्रनत कलपतरु करुना पुंजा।'* (७। १२६। २) इस प्रकार राम और शिवमें अभेद बताया।

जौ मो पर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी॥ १॥
तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना॥ २॥

अर्थ—हे सुखकी राशि (ढेर, समूह, खजाना)! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और मुझे सत्य ही अपनी 'निज दासी' जानते हैं॥ १॥ तो हे प्रभो! अनेक प्रकारसे श्रीरघुनाथजीकी कथा कहकर मेरा अज्ञान हरिये॥ २॥

टिप्पणी—१ *'जौं मो पर प्रसन्न सुखरासी।'* इति। (क) पूर्व सुखके विशेषण कहे; यथा—*'प्रभु समरथ सर्बग्य शिव सकल कला गुन धाम। जोग ज्ञान बैराग्य निधि प्रनत कलपतरु नाम॥'* इस दोहेमें जितने विशेषण हैं वे सब सुखके रूप हैं। *'सुखरासी'* कहकर इन सबोंकी राशि जनाया। पुनः, आगे शिवजीको कल्पतरु कहती हैं; यथा—*'जासु भवनु सुरतरु तर होई'* और कल्पवृक्ष सब सुखोंकी राशि है, अतएव *'सुखरासी'* सम्बोधन दिया। *'सुखरासी'* का भाव कि अज्ञानरूपी दुःख दूर करके मुझे सुखी कीजिये। यह बात उपसंहारमें स्पष्ट है—*'नाथ कृपा अब गएउ बिषादा। सुखी भएउँ प्रभु चरन प्रसादा॥'* (१२०। ३।) (ख) श्रीशिवजीने *'जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा'* इस अत्यन्त आदरको देखकर कहती हैं कि *'जौं मो पर प्रसन्न'* यदि सत्य ही आप मुझपर प्रसन्न हैं; और जो *'प्रिया'* जानकर *'बाम भाग आसनु हर दीन्हा'* उसको लेकर कहती हैं कि *'जौं जानिय सत्य मोहि निज दासी॥'* (ग) शङ्का—शिवजी तो सत्य ही दासी जानते हैं, उनमें असत्य कहाँ है जो कई बार *'सत्य'* शब्द दिया? समाधान—*'सत्य'* शब्दका सम्बन्ध शिवजीके साथ नहीं है, किन्तु उमाके साथ है अर्थात् सत्य दासीका विशेषण है। पार्वतीजी कहती हैं कि यदि आप मुझे सत्य (सच्ची) दासी जानते हों कि यह हमारी *'सत्य कै दासी'* है, झूठी दासी नहीं है—यह आगे स्पष्ट कहा है, जिससे इस अर्थकी पुष्टि होती है, यथा—*'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी।'* (११०। १) मन, कर्म, वचनसे दासी होना 'सत्य दासी' होना है। (यथा—*'मन बच क्रम मोहि निज जन जाना। मुनि मति पुनि फेरी भगवाना॥'* (७। १२३)*'यह मम भगत कर्म मन बानी।'* (७। ११४)—[प्रथम संस्करणमें हमने यही अर्थ दिया था परंतु अब मेरा विचार है कि मुख्य अर्थ यह नहीं है; इसीसे इसको हमने ऊपर अर्थमें नहीं दिया है। मेरी समझमें ऐसा बोलना मुहावरा है। दूसरे; *'सत्य' 'जानिय'* के साथ है। *'सत्य'* और *'निज दासी'* के बीचमें *'मोहि'* शब्द रखा गया है जो दोनोंको अलग करता है। *'जानिय मोहि सत्य निज दासी'* पाठ कवि रख सकते थे। तीसरे, *'निज'* का अर्थ 'सच्चा, खास' भी है, अतः *'सत्य'* शब्दको बिना यहाँ लाये भी 'सच्ची दासी' अर्थ हो जाता है; यथा—*'जे निज भगत नाथ तव अहहीं।'* (१। १५०। ८) *'प्रभु सर्बज्ञ दास निज जानी।'* (१। १४५। ५) *'देखि दसा निज जन मन भाए।'* (३। १०। १६) *'अब बिनती मम सुनहु शिव जौं मोपर निजु नेहु॥'* (१।७६) *'मन मेरो मानै सिख मेरी। जौं निज भगति चहै हरि केरी॥'* (विनय) बैजनाथजी अर्थ करते हैं—'मन, क्रम, वचनसे मैं आपकी दासी हूँ, यदि यह बात आप सत्य जानते हैं।' इनके अनुसार भी, निज दासी=मन-कर्म-वचनसे सेवामें रत। पंजाबीजीका मत है कि वामभागमें आसन देनेसे निश्चय करती हैं कि मुझपर प्रसन्न हैं और दासी बना लिया। *'जानिय सत्य……'* का भाव कि आपने मेरे पूर्वजन्मकी सब अवज्ञाएँ, जो मुझसे हुई थीं, अपने चित्तसे भुला दीं] (घ) *'दासी'* कहकर उसका अधिकार दिखाती हैं।

प० प० प्र०—*'प्रभु'* और *'दासी'* शब्दोंसे सेव्य-सेवक, आश्रय-आश्रित-सम्बन्ध जनाया। आगे यह सम्बन्ध *'तुम्ह त्रिभुवन गुरु'* कहके गुरु-शिष्य-सम्बन्धमें परिणत होगा, तब शिवजी कहेंगे। आगे मतिभ्रम भारीका हरण, दुःख-विनाश *('सहि कि दरिद्रजनित दुखु सोई')* और सुखलाभ यह 'प्रयोजन' कहा है। *'नाना बिधि रघुनाथ कथा'* यह विषय कहा *'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी'* इत्यादि और *'आरत अधिकारी'* में अधिकारी-अनधिकारी कहा है।

टिप्पणी—२ *'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना।……'* इति। (क) *'तौ'* का सम्बन्ध *'जौं मो पर……'* से है। तात्पर्य कि यदि प्रसन्न हैं तो उस अपनी प्रसन्नताको सफल कीजिये। क्योंकि जिसको ईश्वर अपना जाने और ऐसा जानकर उसपर प्रसन्न हो, तो उसमें अज्ञान न रहना चाहिये। इसीपर आगे दृष्टान्त देती हैं—*'जासु भवन……'।* अज्ञान हरनेमें 'प्रभु' कहा, अर्थात् हरनेको समर्थ हैं। ☞ ऊपर १०७। ४ में कहा है कि *'पूरुब जन्म कथा चित आई'* अर्थात् स्मरण हो आया कि पूर्वजन्ममें शिवजी न तो मुझपर प्रसन्न ही रहे और न उन्होंने मुझे निज दासी ही समझा, इसीसे पूर्वजन्ममें अज्ञान दूर न हुआ। इसीसे अब कहती हैं कि अब यदि आपने मुझे निज दासी समझा है और मुझपर प्रसन्न हुए हैं तो अब अज्ञानको भी चला जाना चाहिये, अब उसके रहनेका कौन सम्बन्ध

है जो वह बना रहे? (ख) ***'हरहु मोर अज्ञाना'*** इति। श्रीरामस्वरूपका न जान पड़ना अज्ञान है, यही पार्वतीजी आगे कहती भी हैं।—***'तुम्ह कृपाल सब संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ॥'*** (१२०। २) (ग) ***'कहि रघुनाथ कथा'*** इति। अर्थात् यद्यपि अज्ञानकी निवृत्ति वेदान्तसे भी होती है, पर उससे मेरा भला न होगा; अत: आप वेदान्त कहकर अज्ञान न हरिये, किन्तु श्रीरघुनाथजीकी कथा कहकर हरिये। तात्पर्य कि आत्म-परमात्म-ज्ञानमें मुझे अज्ञान नहीं है, सगुण ब्रह्म (की लीला) जाननेमें अज्ञान है। अतएव सगुण ब्रह्मकी कथा कहकर अज्ञान हरण कीजिये। पुन: भाव कि श्रीरघुनाथजीकी कथामें ज्ञान परिपूर्ण है। यथा—***'राम कथा मुनि बर बहु बरनी। ज्ञान जोनि पावक जिमि अरनी॥'*** (७। ३२। ८) इसीसे पृथक्-पृथक् ज्ञान कहकर अज्ञान-हरण करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। पुन: भाव कि अगस्त्यजीके मुखसे श्रीरामकथा सुन चुकी हैं; यथा—***'राम कथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी॥'*** (४८। ३) इससे जानती हैं कि वह ज्ञानकी समूह है। अत: ***'रघुनाथ कथा'*** ही सुनना चाहती हैं। (घ) ***'बिधि नाना'*** इति। अज्ञान भारी है, इसीसे कहा कि ***'नाना बिधि'*** से कथा कहिये। [बैजनाथजी ***'नाना बिधि'*** से 'अवतारका हेतु, धामकी महिमा, नामका प्रताप, रूपके गुण और ऐश्वर्य-माधुर्य-यश-कीर्त्तिमय लीलादि' का भाव लेते हैं।]

जासु भवनु सुरतरु तर होई। सहि कि दरिद्र जनित दुखु सोई॥ ३॥
ससि भूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी॥ ४॥

अर्थ—जिसका घर कल्पवृक्षके नीचे हो, (भला) वह दरिद्रसे उत्पन्न दु:खको क्यों सहेगा?॥ ३॥ हे शशिभूषण (चन्द्रशेखर)! हे नाथ! ऐसा हृदयमें विचारकर मेरे बुद्धिके भारी भ्रमको हर लीजिये॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'जासु भवनु सुरतरु तर होई।......'*** इति। (क) ***'सुरतरु'***—क्षीरसागरमन्थनसे निकला हुआ एक वृक्ष, जो देवलोक (स्वर्ग) में है।—***'नाम रामको कलपतरु।'*** (१। २६) में देखिये। (ख) यहाँ शिवजी कल्पवृक्ष हैं, उसके तले पार्वतीजीका भवन है, अर्थात् ये शिवजीकी दासी हैं। (ग) ***'सुरतरु तले'*** भवन होनेमें ही शिवजीकी प्रधानता है, इसीसे शिवजीकी प्रधानता रखनेके लिये ऐसा कहा है। भवनके पास कल्पवृक्ष होनेसे पार्वतीजीकी प्रधानता होती, इससे वैसा ही कहा। (घ) ऊपर नामको कल्पतरु कहा है—***'प्रनत कलपतरु नाम'।*** रूप भी कल्पतरु है, यह यहाँ कहा। भाव यह कि जिसका नाम लेनेसे मोहका नाश होता है, उसके समीप रहनेपर तो मोह किसी प्रकार न रहना चाहिये। यहाँ शिवजी सुरतरु हैं और उनके समीप रहना यही भवन है। (ङ) ☞कल्पवृक्षके तले जाकर माँगनेसे कल्पवृक्ष देता है। यथा—***'जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच। मागत अभिमत पाव जग राव रंक भल पोच॥'*** (२। २६७) पार्वतीजी कल्पवृक्षरूप शिवजीके पास गयीं,—***'बैठीं शिव समीप हरषाई';*** और माँगती हैं कि मेरा अज्ञान नष्ट हो—***'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना॥'*** सुरतरु-तले जानेवालेका दरिद्र नाश होता है और मेरा भवन ही सुरतरु-तले है। तात्पर्य कि एक बार ही आपके पास जानेसे अज्ञान दूर हो जाता है और मैं तो रात-दिन आपके पास ही रहती हूँ।—यही सुरतरु-तले भवनका होना है। (च)***'सहि कि दरिद्र-जनित......'*** इति। मोह दरिद्र है, यथा—***'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा॥'*** (७। १२०। ४) उसीके हरनेकी प्रार्थना करती हैं—***'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना॥'*** अज्ञान और मोह पर्याय हैं। (दरिद्रता स्वयं ही दु:ख है, यथा—***'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।'*** (७। १२१। १३) यहाँ 'वक्रोक्ति' अलङ्कार है।)

टिप्पणी—२ ***'ससिभूषन अस हृदय बिचारी।'*** इति। (क) शशिभूषणका भाव कि शशि शरदातपको हरता है, यथा—***'सरदातप निसि ससि अपहरई';*** आप मेरे मोहरूपी तापको हर लीजिये। यह भाव उपसंहारके ***'मिटा मोह सरदातप भारी।'*** (१। १२०। १) से सिद्ध होता है। इस तरह 'सुरतरु' और 'ससि भूषण' दोनों ही विशेषण मोहके ही नाशके लिये कहे गये। [(ख) ***'ससिभूषन',*** यथा—***'आननु सरद चंद छबि हारी।'*** (१०६। ८) ***'सोह बालबिधु भाल।'*** (१०६) 'मुख चन्द्र है, वचन किरण हैं, भारी भ्रम वा मोह शरदातप है। यथा—***'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥'*** (ग) पुन: भाव कि 'आपने अल्प कलावाले एवं वक्र चन्द्रमाको मस्तकपर धारण किया और उसे जगत्-वन्द्य बना दिया,

मैं भी अल्प-गुणयुक्त और संशयात्मक हूँ तथापि आपने मुझे अङ्गीकार कर लिया है; अथवा जैसे चन्द्रमा ओषधियोंको रस देता है और अन्धकार भी हरता है, वैसे ही आप मेरी बुद्धिको भक्तिरूपी रस दें और मेरे बुद्धिका भ्रम भी निवारण करें।' (पं०)] (घ) *'अस हृदय बिचारी'* का भाव कि आप चन्द्रभूषण हैं, सुरतरु हैं, अपने गुणोंको विचारकर मेरा भ्रम दूर कीजिये, मेरे अवगुणोंकी ओर न देखिये। (ङ) *'मम मति भ्रम भारी'*—मतिका भ्रम आगे कहती हैं—*'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि। देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥'* (१०८)

वि० त्रि०—गुरुसे पूछनेपर ही ज्ञान होता है, अतः पहिले अज्ञानके दूर करनेकी प्रार्थना मायाकी आवरणशक्ति दूर करनेके लिये की थी—*'हरहु मोर अज्ञाना।'* अब दूसरी प्रार्थना मायाकी विक्षेपशक्ति (भ्रम) को दूर करनेके लिये हो रही है। पहिले वस्तुका अज्ञान होता है, उसके बाद अन्यथा ज्ञान होता है। ये ही दोनों क्रमशः मायाकी आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति कहलाते हैं।

प्रभु जे मुनि परमारथ बादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥ ५॥
सेस सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना॥ ६॥
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती॥ ७॥

शब्दार्थ—**परमार्थ**=परम अर्थ जो पदार्थ सबसे परे है। (पां०) **परमारथबादी** (परमार्थवादी)=ब्रह्मज्ञानी, चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मके स्वरूपको यथार्थ जानने और कहनेवाले। *'परमारथ पथ परम सुजाना।'* (१। ४४। २) देखिये। **अनंग**=बिना अङ्गके (ही सबको व्यापनेवाला)=कामदेव। यथा—*'अब ते रति तव नाथ कर होइहि नामु अनंगु। बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि सुनु निज मिलन प्रसंगु।'* (१। ८७) **आराती**=शत्रु। 'अराती' शुद्ध संस्कृतभाषाका शब्द है। **'अभिघातिपराऽरातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः।'** (अमरकोश २। ८) **अनंग आराती**=कामारि।

अर्थ—हे प्रभो! जो परमार्थवादी मुनि हैं वे श्रीरामजीको अनादि ब्रह्म कहते हैं॥ ५॥ शेष, शारदा, वेद और पुराण सभी श्रीरघुनाथजीके गुण गाते हैं॥ ६॥ और फिर हे कामदेवके शत्रु! (ये ही नहीं किन्तु) आप भी दिन-रात आदरपूर्वक राम-राम जपते हैं॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'प्रभु जे मुनि परमारथबादी।……'* इति। (क) *'जे'* अर्थात् सब मुनि नहीं, केवल वही जो परमार्थतत्त्वके ज्ञाता और वक्ता हैं। ('परमार्थवादी' हेतुगर्भित विशेषण है। इससे जनाया कि ये यथार्थ तत्त्वके ज्ञाता होनेसे इनका विचार वा ज्ञान प्रामाणिक है।) (ख) *'कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी'* अर्थात् मुनिलोग रूपका निरूपण करते हैं। यथा *'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं॥'* (४। १०) *'करि ध्यान ज्ञान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं॥'* (३। ३२) यहाँ *'रूप'* कहकर आगे *'लीला'* कहती हैं। (ग) *'सेस सारदा……'* यथा *'सारद सेस महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥'* (१। १२) मुनि, शेष और शारदासे मर्त्य, पाताल और स्वर्ग तीनों लोकोंके प्रधान-प्रधान वक्ताओंको कह दिया। वेद और पुराण तीनों लोकोंके वक्ता हैं। (घ) *'सकल करहिं……'* का भाव कि वे रघुपति यही हैं या कोई और *'रघुपति'* हैं, जिनका वेदादि गुण गाते हैं। ☞ इन दोनों चरणोंमें *'लीला'* कही, *'रघुपति गुन गान'* लीला है। आगे *'नाम'* को कहती हैं। [*'राम'* से कई रामका बोध होता है, अतः *'रघुपति'* कहा। (पां०)]

टिप्पणी—२ (क)—[*'तुम्ह पुनि'* का भाव कि वे श्रीरामजीको अनादि ब्रह्म भले ही मानें और कहें तथा उनका गुणगान करें तो भले ही करें, इसमें मुझे आश्चर्य नहीं होता, परंतु आप तो *'प्रभु समर्थ सर्वज्ञ सकल कला-गुन-धाम योग-ज्ञान-वैराग्यनिधि'* हैं तथा *'अनंग आराती'* हैं अर्थात् कामनारहित पूर्णकाम हैं; इत्यादि विशेषणों और गुणोंसे युक्त होनेपर भी आप *'राम राम'* जपते हैं, इसीसे मुझे भारी संदेह हो गया है] (ख) *'दिन राती'* अर्थात् निरन्तर जपते हैं, विश्राम नहीं करते, भजनहीमें विश्राम मानते हैं। (ग) *'सादर जपहु'* का भाव कि श्रीशिवजीको राम-नाम अत्यन्त प्रिय है; यथा *'अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के॥'* (१। ३२। ८) इसीसे आदरपूर्वक जपते हैं। [पुनः, 'सादर=भावपूर्वक।' भाव कि श्रीसीताजीके

वियोगकालमें रघुनाथजीको अति शोकातुर देखकर भी आपकी श्रद्धामें किञ्चित् भी न्यूनता न आयी। (पं०)]

(घ) *'अनंग आराती'* का भाव कि कामका नाश करके *'राम राम'* जपते हैं, क्योंकि काम भजनका बाधक है। कामको त्यागकर भजन करना चाहिये। यथा ***'तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम। जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम॥'*** (५। ४६) [पुनः भाव कि और लोग सकाम जपते हैं। और आप निष्काम जपते हैं, उसपर भी आदरपूर्वक जपते हैं। (पं०) पुनः भाव कि कामदेवको भस्म करके फिर उसे अङ्गहीन सजीव कर दिया, ऐसे समर्थ होकर भी आप नाम जपते हैं। (वै०)]

(ङ) ☞ यहाँ नाम कहा, आगे *'धाम'* कहती हैं। शिवजी राम-नाम जपते हैं, यथा ***'अस कहि लगे जपन हरि नामा॥'*** (५२। ८), ***'राम नाम सिव सुमिरन लागे॥'*** (६०। ३), ***'महामंत्र जोइ जपत महेसू'*** ***'तव नाम जपामि नमामि हरी॥'*** (७। १४) इत्यादि।

नोट—श्रीपार्वतीजी रूप, लीला, नाम और धाम चारों श्रीरघुपतिकथामें सुनना चाहती हैं, अतएव यहाँ अपने वचनोंमें ये चारों बातें गुप्त रीतिसे प्रकट कर रही हैं। क्रमसे वे चारोंका महत्त्व कहती जा रही हैं। ऊपर जो उन्होंने कहा था—***'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना॥'*** उससे इस भावका समर्थन हो रहा है।

टिप्पणी—३ रूप, लीला और नामको क्रमसे कहनेका भाव—(क) मुनि, शेषादि और श्रीशिवजी—ये सभी नाम, रूप, लीला और धामका निरूपण करते हैं। रही बात यह कि एक-एक मुख्य है। जिसमें जो मुख्य है उसमें उसीको कहा गया। परमार्थवादी मुनिमें रूपकी प्रधानता है, शेषादिमें लीलाकी और शिवजीमें नामकी प्रधानता है। अतएव इन्हींको पृथक्-पृथक् उनके साथ कहा। पुनः, (ख) ☞ रूप, लीला और नाम उत्तरोत्तर एकसे दूसरेको अधिक प्रिय जनाया। मुनि रूप कहते हैं। (क्योंकि मुनि मननशील होते हैं। ये रूपका ध्यान करते हैं। इसीसे ये 'रूप' के ज्ञाता होनेसे उसीको कहते हैं) लीला रूपसे विशेष प्रिय है, यथा ***'हरि ते हरिचरित पियारे'*** (गीतावली), ***'जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान। जे हरि कथा न करहिं रति तिन्ह के हिय पाषान॥'*** (७। ४२) लीलासे नाम अधिक प्रिय है, यथा ***'रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि॥'*** (१। २५) (ग) ☞ रूपसे लीला और लीलासे नाम विशेष है, अतएव इनके ग्रहण करनेवाले भी इनसे उत्तरोत्तर विशेष दिखाये गये। मुनियोंसे शेषादि विशेष हैं, क्योंकि मुनि इनकी उपासना करते हैं और इनसे शिवजी विशेष हैं; क्योंकि ये सब शिवजीका गुण गाते हैं।—***'चरितसिंधु गिरिजारमन बेद न पावहिं पारु॥ १०३॥'***

टिप्पणी—४ यहाँ तीन प्रमाण दिये हैं—मुनि, शेषादि और शिवजी। तीन प्रमाण देनेका कारण यह है कि पार्वतीजीने सतीतनमें शिवजीके मुखसे तीन ही प्रमाण सुने हैं, जो प्रमाण सुने हैं वे ही आप भी दे रही हैं। यथा ***'जासु कथा कुंभज रिषि गाई॥'*** (५१। ७) ***'मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं। कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं'*** और ***'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥'*** (१। ५१। ८)

टिप्पणी—५ जिस क्रमसे शिवजीने वर्णन किया था, उसी क्रमसे पार्वतीजीने भी प्रश्न उठाया। दोनोंका मिलान—

श्रीशिवजी	श्रीपार्वतीजी
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।	*१ तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु*······
सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥	*२ प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥*
मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।	*३ सेस सारदा बेद पुराना।*
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥	*सकल करहिं रघुपति गुन गाना॥*
सोइ राम ब्यापक ब्रह्म भुवन निकायपति मायाधनी।	*४ रामु सो अवधनृपतिसुत सोई।*
अवतरेउ अपने भगत हित ।	*की अज अगुन अलख गति कोई॥*

रामु सो अवधनृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई॥ ८॥

अर्थ—(जिनको मुनि अनादि ब्रह्म कहते हैं, जिनका यश शेषादि गाते हैं और जिनका नाम आप जपते हैं) वे राम वही अवधके राजा दशरथके पुत्र हैं (जिनको वनमें विलाप करते देखा था), या अजन्मा, निर्गुण (अव्यक्त) और अलक्ष्य गतिवाले कोई और (राम) हैं?॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) वेद-पुराणोंके वचनोंसे और महादेवजीके इष्ट (होने) से ब्रह्म निश्चय किया। *'अवध'* पद कहकर धाम सूचित किया; नहीं तो *'नृपतिसुत'* इतना ही कहतीं। अवधनृपतिके सुत हैं तब तो अवध उनका धाम है। (ख) *'की अज अगुन अलख गति कोई'* इति। ऊपर जो तीन बातें तीन चौपाइयोंसे कहीं वही यहाँ 'अजादि' तीन पदों (विशेषणों) से कहती हैं। अर्थात् उपर्युक्त तीनों चौपाइयोंका प्रयोजन अज आदि तीन पदोंसे ग्रहण किया गया। *'प्रभु जे मुनि परमारथ बादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥'*—यह बात *'अज'* से, *'सेस सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना॥'* —यह बात *'अगुण'* से, और *'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥'*—यह बात *'अलख गति'* से ग्रहण की। (ग) ब्रह्मके तीन लक्षण हैं—अज, अगुण, अरूप। यथा *'जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भएउ कोसलपुर भूपा॥'* (१। १४१। २) यहाँ जो *'अलख गति'* कहा, उसका अर्थ इस प्रकार *'अरूप'* हुआ। (घ) *'की अज अगुन......'* इस शङ्काका कारण आगे देती हैं कि *'जौं नृपतनय......।'* अज आदिके भाव भी वहीं दिये जायँगे।

बैजनाथजी—१ यह आश्चर्य अभिनिवेशित वार्ता है। जैसे लोकमें कोई महाराज नामजादा किसीके कार्यहित दया कर एकाकी ही निकले और कोई उसे पहचानकर कहे कि यह तो अमुक महाराजा है तो सब यही कहेंगे कि तू झूठा है, क्योंकि तू एक अदना (तुच्छ, साधारण व्यक्ति) को महाराज बताता है, भला वह होते तो डंके, निशान, सेनाके पदप्रहारसे गजों जमीन खुदकर रज हो आकाशको जाती। यदि किसीने विश्वास किया भी तो ऐश्वर्यहीन देख आश्चर्यवश पुनः पूछता है कि अरे! यह वही महाराजा है? वैसे ही सतीजीको प्रथम विश्वास नहीं आया। जब प्रभाव देखा तब बुद्धि भ्रमित हो गयी, जिससे यथार्थ बोध न हो सका। किञ्चित् विश्वास है इसीसे आश्चर्यान्वित होकर पूछती हैं कि *'राम सो......।'*

२ *'अज'* का भाव कि ब्रह्म तो जन्म नहीं लेता, वह तो अजन्मा है और ये तो राजाके पुत्र हैं। ब्रह्म 'अगुण' अर्थात् मायिक गुणोंसे परे है, उसमें कोई गुण छू नहीं जाते और ये तो रजोगुणवश सकाम होनेसे स्त्रीमें आसक्त रहे, स्त्री-वियोग होनेसे तमोगुणवश हो विलाप करते देखे गये। ब्रह्म अलखगति है, उसकी गति कोई जान नहीं सकता। [ब्रह्मकी गति अलक्ष्य है, वह प्राकृत इन्द्रियोंका विषय नहीं है। बिना दिव्य सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त किये कोई देख नहीं सकता और न जान ही सकता है। यथा—**'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।'** (कठ० १। ३। १२)] और इनकी गति तो प्रत्यक्ष ही सबको दिख रही है। मैंने स्वयं देखी है जैसा आगे कहती हैं—*'देखि चरित......।'* और सभीने देखा है कि विरहसे व्याकुल हो रहे थे—*'देखा प्रगट बिरह दुख ताकें।'* (४९। ८)

टिप्पणी—२ ☞ शिवजीका उपदेश सतीजीको नहीं लगा। इसका कारण एक तो वहीं उसी प्रसंगमें कहा गया है, यथा—*'लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु। बोले बिहसि महेसु हरिमाया बलु जानि जिय॥'* (१। ५१) अर्थात् इसमें मायाका प्राबल्य कारण था। दूसरे, शिवजीने वहाँ अवतारका हेतु नहीं कहा था, इससे संदेह बना रह गया कि ब्रह्म अवतार नहीं लेता। वही शंका यहाँ प्रकट करती हैं—*'जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि'।* यह शंका पूर्व सतीतनमें भी रही थी। यथा—*'ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद।'* (१। ५०) इसीसे वे बारंबार अवतारका कारण पूछती हैं। यथा—*'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी।'* (१। ११०) *'राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्ब रहित सब उर पुर बासी॥ नाथ धरेउ नृप तन केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू॥'* (१। १२०)

दोहा—जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥ १०८॥

अर्थ—(क्योंकि वे राम) यदि राजपुत्र हैं तो ब्रह्म कैसे? (और यदि ब्रह्म हैं तो) स्त्री-वियोग-विरहमें बुद्धि बावली कैसे? उनके चरित देखकर और महिमा सुनकर मेरी बुद्धि अत्यन्त चकरा रही है, अर्थात् बुद्धि निश्चय नहीं कर पाती कि ये दाशरथी राम ब्रह्म हैं॥ १०८॥

टिप्पणी—१ पार्वतीजीने जिन तीन बातोंसे श्रीरघुनाथजीको ब्रह्म निश्चय किया उन्हीं तीनों प्रकारोंसे श्रीरामजीके ब्रह्म होनेमें संदेह करती हैं। यथा—(क) *'प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥'* इसके विरुद्ध यहाँ दिखाती हैं कि *'जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि'* राजपुत्र हैं तब अनादि ब्रह्म कैसे? (ख) *'सेस सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना॥'* इसके विरुद्ध दिखाती हैं कि शेषादि जिनका गुण गाते हैं, उनकी मति नारि-विरहमें भोरी हो गयी, यह गुण कैसे सम्भव करें? (ग) *'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥'* अर्थात् जिनके नामकी ऐसी महिमा है। यथा—*'राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥ संतत जपत संभु अबिनासी। सिव भगवान ज्ञान गुन रासी॥ आकर चारि जीव जग अहहीं। कासीं मरत परमपद लहहीं॥ सोपि राम महिमा मुनिराया। सिव उपदेसु करत करि दाया॥'* (१। ४६) जिनका ऐसा नाम है, उनके चरित कैसे हैं? भाव कि प्रथम तो ब्रह्मका अवतार नहीं होता और यदि अवतार हो भी तो उनमें अज्ञान नहीं हो सकता।

नोट—१ अपनी ओरसे जो पूर्व कहा है उसका खण्डन करती हैं। राजाके पुत्र हैं, राजाके यहाँ इनका जन्म हुआ तब ये ब्रह्म कैसे हो सकते हैं कि जिनका परमार्थवादी मुनि ध्यान करते हैं? स्त्री-विरहमें ये ऐसे विह्वल हो गये कि इनकी बुद्धि बावली हो गयी, ये विलाप करते थे और लताओं-वृक्षों आदिसे पूछते थे; यथा—*'हा गुनखानि जानकी सीता। रूप सील ब्रत नेम पुनीता॥ लछिमन समुझाए बहु भाँती। पूछत चले लता तरु पाँती॥ हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनयनी॥ खंजन सुक कपोत मृग मीना॥'* से *'एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहु महा बिरही अति कामी॥'* तक। (३। ३०। ७—१६) जो ऐसे पागल हो रहे थे उनकी लीला भला शेषादि कैसे गावेंगे? *'देखि चरित'* अर्थात् *'नारि बिरह मति भोरि'* यह चरित प्रत्यक्ष देखा और महिमा कुम्भज ऋषि तथा आपसे सुनी। जिनकी ऐसी महिमा है कि आप निष्काम होकर उनका नाम सादर निरंतर जपा करते हैं उनके चरित्र ऐसे कब हो सकते हैं? (भाव यह कि इन सब बातोंका सामञ्जस्य नहीं बैठता। इस भाँति परमार्थवादी, शेष, शारदा, वेद, पुराण और स्वयं शिवजीके सिद्धान्तपर भगवती उमाने संदेह किया। वि० त्रि०)

बैजनाथजी—*'महिमा सुनत',* यथा पुरुषसूक्ते—**'एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।'** अर्थात् ऐसे पुरुषकी इतनी महिमा है जो लोकका मोक्षदाता है। इसी कारणसे उसको श्रेष्ठ पुरुषोत्तम कहते हैं। उसके एक पाद अर्थात् किञ्चित् अंशसे चराचर संसार है, तीन पाद आकाशमें हैं। अथवा वह विनाश-रहित स्वयं प्रकाश है। इत्यादि महिमा है। २ *'देखि चरित'*—अर्थात् *'नारि बिरह मति भोरि'* यह चरित देखकर और अगस्त्यजीसे, शेष-वेद-पुराणादिसे तथा आपके मुखसे महिमा सुनकर।

जौ अनीह ब्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ॥ १॥
अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू। जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू॥ २॥

शब्दार्थ—अनीह (अन ईहा) इच्छा, चाह वा कामनारहित। *'एक अनीह अरूप अनामा।'* (१। १३। ३) देखिये। व्यापक—(१। १३। ३) देखिये। **विभु**=समर्थ अर्थात् सत्यसंकल्प, सत्यकाम। **अज्ञ**=अज्ञान, अनजान, अबोध, नासमझ, नादान।

अर्थ—यदि अनीह, व्यापक, समर्थ (राम ब्रह्म) कोई और हो तो, हे नाथ! मुझे वह भी समझाकर

कहिये॥ १॥ मुझे अबोध (नादान) जानकर मनमें क्रोध न लाइये। जिस तरह मेरा मोह मिटै वही कीजिये॥ २॥

टिप्पणी—१ *'जौ अनीह……'* इति। (क) अज, अगुण, अलखगति, अनीह, व्यापक और विभु कहकर पूर्व-जन्मके संदेह प्रकट किये कि ब्रह्म अवतार नहीं लेता; यथा—*'ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद।'* (१। ५०) इसीसे कहती हैं कि नृपतिसुतसे अन्य जो कोई पूर्वोक्त विशेषणयुक्त ब्रह्म है, उसे भी समझाकर कहिये। तात्पर्य कि ब्रह्मका 'बूझना' कठिन है। (ख) यहाँ अगुण ब्रह्मको *'बुझा'* कर अर्थात् समझाकर कहनेकी प्रार्थना करती हैं, क्योंकि निर्गुण ब्रह्मके चरित नहीं होते, वह तो अनीह है और सगुण ब्रह्म चरित करते हैं, इससे ऊपर उनकी कथा कहनेकी प्रार्थना की है। यथा—*'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना॥'*

बैजनाथजी—जो गुण सुने वे देखनेमें नहीं आये, इसीसे श्रीरामरूपमें परब्रह्मका निश्चय नहीं होता। इसीसे कहती हैं—*'जौ अनीह……'।* अनीह=बालयुवा-वृद्धावस्था, पुष्ट, क्षीण; उदासीन या प्रसन्न इत्यादि चेष्टाओंरहित सदा एकरस प्रसन्न-रूप। *'बिभु'*=समर्थ अर्थात् विभवरूप अवतार भगवान्‌के पाँच रूप हैं (ब्रह्मस्वरूपके पाँच भेद हैं) उनमेंसे अर्चा और व्यूह इन दो रूपोंमें तो पार्वतीजीने अपने-आप ही बोध कर लिया है। इनके अतिरिक्त जो तीन रूप पर, अन्तर्यामी और विभव हैं, उनके सम्बन्धमें संदेह है, वही पूछती हैं कि इनमेंसे जो सर्वोपरि परब्रह्मरूप हो (पर-स्वरूप हो) वह हमें समझाइये। उनका ऐश्वर्य सुनाकर मनको बोध करा दीजिये।

टिप्पणी—२ *'अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू।……'* इति। (क) ☞ इस वचनसे निश्चय होता है कि *'जौ अनीह ब्यापक बिभु कोऊ'* इतना कहते ही शिवजीकी चेष्टा बदल गयी, क्रोधयुक्त हो गयी, जैसा कि आगे शिवजीके वचनोंसे भी प्रमाणित होता है। यथा—*'एक बात नहि मोहि सोहानी। जदपि मोह बस कहेहु भवानी॥ तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥ कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।'* (१। ११४) क्रोधका चिह्न देखते ही पार्वतीजी समझ गयीं कि मुझसे कहते नहीं बना, बात बिगड़ गयी, इसलिये तुरत ही *'अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू'* कहकर वे प्रार्थना करने लगीं। (बैजनाथजीका मत है कि *'अज्ञ जानि'* का भाव यह है कि 'पूर्ववत् अज्ञान जानकर क्रोध न कीजिये कि समझेगी कि नहीं, कौन व्यर्थ बकवाद करे। अथवा, पूर्णबोध बिना मैं अज्ञ हूँ, बिना बताये कैसे बोध होगा, ऐसा जानकर रिस न कीजिये) (ख) *'अज्ञ जानि……'* का भाव कि अज्ञका अपराध बड़े लोग उरमें नहीं रखते; यथा—*'छमहु चूक अनजानत केरी।'* (१। २८२। ४) फिर स्त्रियाँ तो सहज ही अज्ञ होती हैं, यथा—*'कीन्ह कपट मैं संभु सन नारि सहज जड़ अज्ञ।'* (१। ५७) अतएव कहती हैं कि अज्ञ जानकर रिस न कीजिये, किन्तु अज्ञताको हर लीजिये। (पुनः, *'अज्ञ जानि……'* का भाव कि नासमझ होनेके कारण यदि मैंने कुछ अनुचित कहा हो तो उसे क्षमा कीजिये। यथा—*'अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता॥'* (१। २८५। ६) (ग) *'जेहि बिधि मोह मिटै……'* इति। मोह मिटानेका उपाय हरिकथा है। यथा—*'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।'* (७। ६१) सो यह बात वे प्रथम ही कह चुकी हैं—*'कहि रघुनाथ कथा……'।* (भाव कि मैं वह विधि नहीं जानती जिससे मोह मिट जाय। यदि कथा कहनेके अतिरिक्त कोई विधि हो, तो उसे ही काममें लाइये। वि० त्रि०)

मैं बन दीखि राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई॥ ३॥
तदपि मलिन मन बोधु न आवा। सो फलु भलीभाँति हम पावा॥ ४॥

अर्थ—मैंने वनमें श्रीरामजीकी प्रभुता देखी थी, परंतु अत्यन्त भयसे व्याकुल (होनेके कारण मैंने यह बात) आपको सुनायी नहीं॥ ३॥ तो भी मेरे मलिन मनको बोध न हुआ। उसका फल हमने भली प्रकार (खूब अच्छी तरह) पा लिया॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'मैं बन दीखि……'* इति। (क) यदि शिवजी कहें कि मोह मिटनेका हेतु तो हो चुका

है, तुम वनमें श्रीरामजीकी प्रभुता देख ही चुकी हो; तो उसपर कहती हैं—*'मैं बन दीखि……', 'अजहू कछु संसउ मन मोरें। करहु कृपा……'।* (ख) महिमा सुनना ऊपर कह चुकी हैं—*'देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति……'।* इससे पाया गया कि महिमा देखी नहीं, यह शिवजीसे दुराव करना ठहरता है, इसीसे कहती हैं कि *'मैं बन दीखि राम प्रभुताई'* पर आपके भयसे व्याकुल होकर आपसे नहीं सुनाया; कारण कि आपका कहा मैंने नहीं माना था और वहाँ जानेपर आपकी ही बात ठीक निकली, तब मैं अत्यन्त भयभीत हो गयी कि अब क्या उत्तर दूँगी। यथा—*'मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञानु राम पर आना॥ जाइ उतरु अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा॥'* (१। ५४) *'सतीं समुझि रघुबीर प्रभाऊ॥ भय बस सिव सन कीन्ह दुराऊ॥'* (१। ५६। १) (ग) जब शिवजीकी चेष्टा रिसयुक्त हुई तब समझ गयीं कि यही रामजी ब्रह्म हैं, इनसे अतिरिक्त और कोई ब्रह्म नहीं है। यही अब कहती हैं। (ग) *'न तुम्हहिं सुनाई'* कहकर अपना कपट प्रकट करती हैं। बातको छिपाकर दूसरी बात कहना कपट है। वह कपट यह था कि *'कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहिं नाईं।। जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई। मोरे मन प्रतीति अति सोई।'* (१। ५६। २-३)

पूर्व शिवजीसे कपट किया था, इसीसे उनके हृदयमें ज्ञान उत्पन्न न हुआ; यथा—*'होइ न बिमल बिबेक उर गुर सन कियें दुराव।'* (१। ४५) अब दुराव छोड़कर कपट त्यागकर शिवजीसे सब हाल स्पष्ट कह रहीं हैं, इसलिये अब श्रीरामस्वरूपका बोध हो जायगा। (घ) [वनमें प्रभुता देखनेका प्रसङ्ग—*'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू॥ कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू।'* (१। ५३। ७-८) तथा—*'जाना राम सती दुखु पावा। निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा॥ सतीं दीख कौतुक मग जाता।'* (१। ५४। ३) से *'बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी'।* (५५। ७) तक है। अत्यन्त भयसे व्याकुल होनेका प्रसंग—*'सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदय बड़ सोचु'।* (५३) से *'उर उपजा अति दारुन दाहा'* तक। पुनः *'सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता। देखि सती अति भई सभीता॥'* इत्यादि। (१। ५५। ५—८) तथा—*'सती समुझि रघुबीर प्रभाऊ। भय बस सिव सन कीन्ह दुराऊ॥'* (५६। १)।]

टिप्पणी—२ *'तदपि मलिन मन बोधु न आवा।……'* इति। (क) बोध न होनेका हेतु कहती हैं कि मन मलिन था इसीसे ज्ञान न हुआ। मनमें संशय, भ्रम आदि करनेसे ज्ञानादि गुण नष्ट हो जाते हैं, मन मलिन हो जाता है। यथा—*'अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं॥'* (१। ११९। ६) सतीजीको बहुत संशय हुआ था। यथा—*'अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥'* (१। ५१) इसी तरह गरुड़के हृदयमें बहुत भ्रम था इसीसे उनको प्रबोध न होता था। यथा—*'नाना भाँति मनहि समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा॥'* (७। ५९) [गुरुकी अवज्ञा करनेसे ईश्वरका साक्षात्कार होनेपर भी बोध नहीं होता। (रा० प्र०)] (ख) *'सो फलु भलीं भाँति……'* इति। अर्थात् ईश्वरमें नरबुद्धि लायी, आपका वचन झूठ माना; इसका फल भली प्रकार मिला। यथा—*'मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पति बचनु मृषा करि जाना॥ सो फलु मोहिं बिधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा॥'* (१। ५९)। [भलीभाँति फल यह कि पतिने सतीतनमें पत्नीभावका त्याग किया, यह पति-परित्यागका भारी दुःख, उसीके कारण आगे तन-त्याग, पुनर्जन्म, बालपनेहीसे उग्र तप, इत्यादि जो हुआ वह सब इसीका परिणाम था। यथा—*'प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी। निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपै अवा इव उर अधिकाई॥'* (१। ५८) (ग) ☞ भ्रम अन्तःकरणमें होता है। अन्तःकरण चार हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इसीसे यहीं ये चारों कहे गये। यथा—*'बैठीं शिव समीप हरषाई। पूरुब जन्म कथा चित आई॥', 'देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि।', 'अजहू कछु संसउ मनु मोरें।'* 'मेरी' बुद्धि भ्रमित हो रही है, 'मेरे' मनमें संशय है। *'मोरें'* यह अहङ्कार है। मन और बुद्धिके साथ अहङ्कार मिला हुआ है। (घ) ☞ यद्यपि प्रभुता देखी तथापि बोध न हुआ। कारण कि ब्रह्ममें मनुष्यबुद्धि करनेसे मन

मलिन हो गया था, इससे तथा शिवजीसे दुराव करनेसे एवं मायाकी प्रबलतासे बोध न हुआ। [यथा—*'सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ। देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ॥ निज माया बलु हृदय बखानी।'* (१। ५३) *'बहुरि राम मायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा॥'* (५६। ५) इसी तरह नारदको मायावश बोध न हुआ था; *'सुनत बचन उपजा अति क्रोधा। माया बस न रहा मन बोधा॥'* (१। १३६) मोहसे मन मैला हो जाता है, यथा—*'मोह जनित मन लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई।......'*]

बैजनाथजी—*'सो फलु भली भाँति हम पावा'*—भाव कि आप-ऐसे आचार्यका उपदेशामृत, उसपर भी प्रभुका दर्शनरूप अमृत दोनोंको पानेपर भी दुःख हुआ, क्योंकि मुझसे उचित कर्तव्य न बना। नहीं तो प्रभुका प्रभाव देखकर चाहिये था कि त्राहि-त्राहि करती हुई स्तुति करती तो वे शरणपाल मेरा अपराध क्षमा कर देते और आपसे सच्ची बात कह देती तो आप भी दयालु हो क्षमा कर देते; परंतु मन मलिन था, इससे एक भी कर्तव्य न बना।

वि० त्रि०—*'तदपि मलिन......'* इति। पहले आचरण और विक्षेप कह चुकीं, अब मनोमल कहती हैं, अर्थात् अपनेमें मायाकी तीनों शक्तियों आवरण, विक्षेप और मलको दिखलाया। अज्ञानका फल ही दुःख है सो भलीभाँति मैं पा चुकी। फिर भी दण्डसे अज्ञान पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ।

प० प० प्र०—कारण-कार्यक्रमानुसार चरणोंका क्रम यह चाहिये—*'मैं बन दीख राम प्रभुताई। तदपि मलिन मन बोध न आवा। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई।......।'* यहाँ यह क्रम न रखकर जनाया कि पूर्वजन्मकी उस घटनाकी स्मृतिसे पार्वतीजी इतनी डर गयीं कि भयकी बात पहिले कह डालीं। प्रभुताके देखनेका परिणाम प्रतीतिसे प्रीति होना कहा है, पर यहाँ कारणके अस्तित्वमें भी कार्य नहीं हुआ, यह 'विशेषोक्ति' अलङ्कार है। पार्वतीजीकी भावनाको प्रदर्शित करनेके लिये यहाँ कारण-कार्य सम्बन्ध भङ्ग किया गया।

अजहूँ कछु संसउ मन मोरें। करहु कृपा बिनवौं कर जोरें॥५॥
प्रभु तब मोहि बहु भाँति प्रबोधा। नाथ सो समुझि करहु जनि क्रोधा॥६॥

अर्थ—मेरे मनमें अब भी कुछ संशय है। (अब मुझपर) कृपा कीजिये, मैं हाथ जोड़कर विनती करती हूँ॥५॥ हे प्रभो! उस समय आपने मुझे बहुत तरहसे समझाया था (फिर भी मेरा संदेह न मिटा), हे नाथ! यह सोचकर कि (इसने हमारी बात न मानी थी) क्रोध न कीजिये॥६॥

नोट—१ *'अजहूँ कछु संसउ'* इति। पूरा संशय *'उर उपजा संदेहु बिसेषी॥'* (१। ५०। ५) से *'अस संसय मन भएउ अपारा।'* (५१। ४) तकमें दिखाया गया। इसमेंसे कुछकी निवृत्ति तो श्रीरामपरीक्षा-समय उनका प्रभाव देखनेपर हो गयी थी। १। ५३, १। ५४। २-३, १। ५५। ७-८ देखिये। अर्थात् यह निश्चय हो गया था कि ये सर्वज्ञ हैं, ब्रह्मा-विष्णु-महेशके इष्ट और उपास्य हैं, इसमें अब संदेह नहीं। परीक्षा लेनेपर अब वे उससे यह सिद्धान्त निकालती हैं कि दो ब्रह्म राम हैं—एक अगुण जो अवतार नहीं लेते, दूसरे सगुण जो अवतार लेते हैं। अपना यह संशय उन्होंने यहाँ *'रामु सो अवधनृपति सुत सोई।......'* इत्यादिसे प्रकट किया। परन्तु *'की अज अगुन अलख गति कोई।', 'जौं अनीह ब्यापक बिभु कोऊ'* यह सुनते ही शिवजीकी चेष्टा बदलती देख आपको विश्वास हो गया ये ब्रह्म ही हैं, ब्रह्म दो नहीं हैं, और अवतार भी ब्रह्मका होता है। अब मुख्य संशय केवल यह रह गया कि किस हेतु और किस प्रकार निर्गुण ब्रह्म सगुण होता है। शेष प्रश्न इन्हींकी शाखाएँ हैं।

टिप्पणी—१ *'अजहूँ कछु संसउ......'* इति। (क) अर्थात् परिपूर्ण संशय अब नहीं है, पूर्व बहुत था—*'अस संसय मन भएउ अपारा।'* (१। ५१। ४) (ख) *'करहु कृपा'* अर्थात् संशय दूर कीजिये। संशयसे भारी क्लेश मिला, उसका लेश अभी बना हुआ है, इसीसे संशय दूर करनेके लिये हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हैं और उसके हरण करनेके लिये ही *'कृपा'* करनेको कहती हैं, जैसा आगे *'तुम्ह कृपाल सब संसउ हरेऊ।'* (१। १२०। २) से स्पष्ट है।

टिप्पणी—२ *'प्रभु तब मोहि बहु भाँति प्रबोधा।……'* इति। (क) यदि शिवजी कहें कि हमने तो संदेह दूर करनेके लिये ही बहुत समझाया, इसीसे *'प्रबोध'* पद दिया। ***प्रबोध***=प्रकर्ष करके समझाया। (ख) ☞यहाँ उपदेश न माननेके अपराधके लिये क्षमाप्रार्थी हैं। इसके पूर्व जो *'अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू'* कहकर क्षमा माँगी थी वह प्रश्नकी अज्ञानताके लिये माँगी थी। इसीसे दो बार क्रोधका क्षमा करना लिखा गया। (ग) ☞ पार्वतीजी अपने मनसे शिवजीका रुष्ट होना समझे हुई हैं, वस्तुतः शिवजीको क्रोध नहीं है। देखिये, जब सतीजीने उपदेश न माना था तब वे हरिकी मायाका बल समझकर हँस दिये थे, सतीपर क्रोध नहीं किया था। यथा—*'लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु। बोले बिहसि महेसु हरिमाया बलु जानि जिय।'* (१। ५१) [(घ) *'बहु भाँति प्रबोधा'*- प्रसंग *'सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ॥ जासु कथा कुंभज रिषि गाई।'* से *'लाग न उर उपदेसु……।'* (१। ५१) तक है।]

तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं॥ ७॥

कहहु पुनीत रामगुन गाथा। भुजगराज भूषन सुरनाथा॥ ८॥

शब्दार्थ—**बिमोह**=विशेष मोह, भारी मोह। **रुचि**=लालसा। **पुनीत**=पवित्र एवं पावन करनेवाली।

अर्थ—तबका-सा विशेष मोह अब नहीं है। (अब तो) मनमें श्रीरामकथापर रुचि है। अर्थात् श्रीरामकथा सुननेकी चाह मनमें है॥ ७॥ हे सर्पराजभूषण (शेषजीको भूषणरूपसे धारण करनेवाले)! हे सुरस्वामी! श्रीरामजीके पावन गुणोंकी कथा कहिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'तब कर अस बिमोह अब नाहीं…'* इति। (क) भाव कि उस समय मायाकी प्रबलतासे मेरा मन मलिन हो गया था, इसीसे तब विशेष मोह था। यथा—*'माया बस न रहा मन बोधा।'* (१। १३६) अब सामान्य मोह रह गया है। (ख) *'रामकथा पर रुचि मन माहीं'* इति। इसीसे बारम्बार कथा कहनेको कह रही हैं—(यह रुचिका स्पष्ट प्रत्यक्ष लक्षण है। श्रीशिवजीने भी कहा है—*'तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति कथा सुनाई॥'* (७। १२८। २)यथा—*'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना॥'* (१। १०८। २) *'कहहु पुनीत रामगुन गाथा।'* (यहाँ) और आगे भी *'अति आरति पूछौं सुरराया। रघुपति कथा कहहु करि दाया॥'* (१। ११०। ३)—इत्यादि सबोंमें *'कहहु'* क्रिया देकर *'रुचि'* का स्वरूप दिखाया है। (ग) ☞ प्रथम कहा कि वनमें श्रीरामजीकी प्रभुता देखनेपर भी कुछ संदेह रह गया। यथा—*'मैं बन दीखि राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहिं सुनाई॥ तदपि मलिन मन बोधु न आवा।'* और तब कहती हैं कि आपके समझानेपर भी कुछ मोह रह गया है। (अथवा, यह कहकर कि आपके समझानेपर भी मैं न समझी थी, यह समझकर क्रोध न कीजिये, अब क्रोध न करनेका कारण बताती हैं कि अब कुछ ही मोह रह गया है। जबतक *'बिमोह'* रहा तबतक रामकथा सुननेकी रुचि न थी, अब वैसा मोह नहीं है यह इससे जानती हूँ कि अब उसमें रुचि है)।

टिप्पणी—२ *'कहहु पुनीत रामगुन गाथा।…'* इति। (क) श्रीरामगुणगाथा पुनीत है, यह स्वयं शिवजी आगे कहते हैं। यथा—*'पूछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥'* (१। ११२। ७) पुनः यथा—*'पावन गंग तरंग माल से।'* (१। ३२। १४) *'कहहु रामगुन-गाथा'* का भाव कि उसके सुननेसे रहा-सहा मोह भी नष्ट हो जायगा। यथा *'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।'* (७। ६१) (ख) *'भुजगराज भूषन'* अर्थात् शेष-ऐसे वक्ता आपके भूषण हैं, अतः आप सब कुछ कह सकते हैं। [पुनः शेषजी भक्तोंमें श्रेष्ठ हैं, सो आपके भूषण हैं, तब और कौन आपसे बढ़कर हो सकता है? आपसे कुछ छिपा नहीं रह सकता। (रा० प्र०, करु०) पद्मपुराण पातालखण्डमें श्रीवात्स्यायन ऋषिप्रवरने इन्हींसे श्रीरामचन्द्रजीकी कथा विस्तारसे सुनी है। इसके पूर्व सूर्यवंशके राजाओं और श्रीरामाश्वमेधकी संक्षिप्त कथा भी शेषजीने ही उन्हें सुनायी थी। शेषजीके ऊपर भगवान् शयन किये हुए हैं, उनसे अधिक भगवान्के चरित्र और कौन जानेगा? हजार मुखोंसे वे निरन्तर प्रभुका गुणगान किया ही करते हैं। आरतीमें ग्रन्थकारने

कहा ही है। *'सुक सनकादि शेष अरु सारद, बरनि पवनसुत कीरति नीकी।'* मानसमें भी कहा है—*'सहस बदन बरनइ परदोषा।'* (१। ४। ८) देखिये।] (ग) *'सुरनाथा'* का भाव कि देवता लोग सब वस्तुओंके ज्ञाता होते हैं और आप तो उनके भी स्वामी हैं, अतः सब बात जानते ही हैं। [पुनः देवता सत्त्वगुणी, *'जान'* अर्थात् विशेष बुद्धिमान् और जानकार होते हैं। आप उनके भी स्वामी हैं, अतएव उनसे भी श्रेष्ठ हैं। पुनः आप देवस्वामी हैं अतएव आपका स्वरूप दैवी मायासे परे है, तब भला आपसे बढ़कर रामकथाका वक्ता और मोहकी निवृत्ति करनेवाला कौन मिलेगा? (रा० प्र०, रामदासजी) पुनः भाव कि आप अपने आश्रितोंपर कृपा करते हैं, सुरवृन्दपर कृपा करके विषपान कर लिया था। मुझपर कृपा कीजिये। (वि० त्रि०)]

दोहा—बंदौं पद धरि धरनि सिरु बिनय करौं कर जोरि।
बरनहु रघुबर बिसद जसु श्रुति सिद्धांत निचोरि॥ १०९॥

अर्थ—मैं पृथ्वीपर सिर धरकर आपके चरणोंको प्रणाम करती हूँ और हाथ जोड़कर विनती करती हूँ। श्रुतियोंका सिद्धान्त निचोड़कर श्रीरघुनाथजीका निर्मल यश वर्णन कीजिये॥ १०९॥

टिप्पणी—१ **(क)** *'बंदौं पद धरि धरनि सिरु'* अर्थात् चरणोंपर वा पृथ्वीपर सिर रखकर प्रणाम करना वन्दनाकी अवधि (सीमा पराकाष्ठा) है और *'बिनय करौं कर जोरि'* अर्थात् बद्धाञ्जलि होकर, हाथ जोड़कर विनय करना यह विनयकी सीमा है। (ख) *'श्रुति सिद्धांत निचोरि'* इस कथनसे सिद्ध हुआ कि श्रीरघुवरयश श्रुतियोंका सिद्धान्त है। तात्पर्य कि सब वेद श्रीरामजीका यश वर्णन करते हैं। यथा—*'बंदौं चारिउ बेद भव-बारिधि बोहित सरिस। जिन्हहिं न सपनेहु खेद बरनत रघुबर बिसद जसु।'* (१। १४) वेद साक्षात् मूर्तिमान् होकर रामयश-गान करते हैं। यथा—*'बंदी बेष बेद तब आए जहँ श्रीराम।...... लखेउ न काहू मरम कछु लगे करन गुन गान।'* (७। १२)...... *जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं। ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥'* [वेद रघुवर-विमल-यश वर्णन तो करते हैं पर वेदका अन्त नहीं, 'यथा—अनन्ता वै वेदाः' (भरद्वाज); अतः कहती हैं कि वेदोंमेंसे उनके सिद्धान्तको निचोड़कर कहिये, अर्थात् उसका सार भजनोपयोगी अंश रघुवर-यश कहिये। (वि० त्रि०)]

वेदान्तभूषणजी—**'श्रुति सिद्धांत निचोरि'** इति। महर्षि हारीतजीने श्रुतिसिद्धान्तका वर्णन इस तरह किया है—'**प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तस्य प्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायं फलं चैव तथा प्राप्तिविरोधिनः॥ वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः। मुनयश्च महात्मानो वेदवेदाङ्गवेदिनः॥**' अर्थात् जीवके परम प्राप्य ब्रह्म श्रीरामजीका स्वरूप, भगवत्प्राप्तिसे लाभ और जीवको भगवत्से वियोग करानेवाले विरोधियोंके स्वरूप, इन्हीं पाँच तत्त्वोंको इतिहासपुराणोंसहित समस्त वेद तथा वेद-वेदाङ्गके जाननेवाले महात्मा मुनि लोग वर्णन करते हैं। श्रुति-सिद्धान्त निचोड़कर कहनेके लिये आग्रह करनेपर श्रीशंकरजीने श्रीरामचरितके साथ-साथ ही इन पाँच स्वरूपोंका विवरण भी स्पष्टरूपमें कर दिया है। एक सिलसिलेसे इन्हींका वर्णन इसलिये नहीं किया गया कि पार्वतीजीने केवल रघुवरचरितको ही श्रुति-सिद्धान्त समझकर उसके लिये प्रश्न किया था; परंतु परम वेदज्ञ श्रीशङ्करजीने प्रसंगानुकूल इन पाँचों सिद्धान्तोंका वर्णन अच्छी तरह किया है। *'जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहिं धरहिं मुनि ध्यान। सोइ दसरथसुत भगत हित कोसलपति भगवान।'* (१। ११८) *'कहि नित नेति निरूपहिं बेदा।'* में 'प्राप्यस्वरूप'; *'ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥'* (७। ११७) *'जीव अनेक एक श्रीकंता',* इत्यादिमें प्राप्तका स्वरूप; *'जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी'।* (७। १२६) *'नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना॥ सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा।'* (७। १२७)।*'श्रुति सिद्धांत इहै उरगारी। भजिअ राम सब काज बिसारी।'* (७। १२३) में उपाय; *'सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अन्तकाल रघुपतिपुर जाहीं।'* (७। १५) में फल (भगवत्प्राप्तिमें लाभ) और *'एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भवकूपा।'* (३। १५) इत्यादिमें विरोधीका स्वरूप दिखाया है।